संकेतिका

श्री जगन्नाथ यादव द्वारा केशव आर्ट [illegible]-सं, हाथीभाटा, अजमेर
में मुद्रित एवं प्रकाश जैन, महात्मा गाँधी मार्ग,
अजमेर द्वारा प्रकाशित

सुधीर चौधरी : २३/५, गर्दनी बाग, पटना—२

शम्भुनाथ मिश्र : पत्र सूचना कार्यालय, भारत सरकार, चौक, वाराणसी

कुमारेन्द्र पारसनाथसिंह : २९ रशा रोड पूर्व, पहली गली, कलकत्ता—३३

अतिबल : गिर्द बड़ गाँव, सारीपुर, वाराणसी

विद्याभूषण श्रीरश्मि : पत्र सूचना कार्यालय, भारत सरकार, आकाशवाणी भवन, कलकत्ता—१

राजीव सक्सेना : दो-ई/२४, लाजपत नगर, नई दिल्ली १४

हरदयाल : बी १/२ महेश मार्ग, मोदीनगर(उ० प्र०)

चन्द्रमौलि उपाध्याय : १९३, सोहबतिया बाग, इलाहाबाद—६

शलभ श्रीरामसिंह : आर्य पुस्तक भवन, १८० चितरंजन एवेन्यू, कलकत्ता—७

केदारनाथ अग्रवाल : एडवोकेट, बांदा (उ० प्र०)

परमानन्द श्रीवास्तव : हिन्दी विभाग, सेन्ट एण्ड्रूज कॉलेज, गोरखपुर (उ[illegible]

शिवकुटीलाल वर्मा : १ चाहचंद, इलाहाबाद—३

घनश्याम शलभ : राजबाई हाउस, महात्मा गाँधी [illegible]

विजयबहादुरसिंह : जैन महाविद्यालय, [illegible]

अलकनन्दा [illegible] बी-

सुधीर चौधरी
शम्भुनाथ मिश्र
कुमारेन्द्र पारसनाथसिंह
अतिबल
विद्याभूषण श्रीरश्मि

नव.

अंक ८

सम्पादक : • जगदीश गुप्त
• विजयदेव नारायण साही

...ध : लक्ष्मीकान्त वर्मा द्वारा : श्रीराम वर्मा की कविताएँ • कविताएँ : श्रीराम वर्मा

संचयन : कान्ता भारती • केशव कालीधर • गंगाप्रसाद विमल • गिरधर राठी • गिरिराज किशोर • जगदीश गुप्त • नरेश मेहता पद्मधर त्रिपाठी • प्रमोद सिनहा • प्रणवकुमार वंद्योपाध्याय • • प्रेमलता वर्मा • भगवत रावत • ... राजेन्द्र किशोर • राधाकृष्ण सहाय • विपिन कुमार अग्रवाल • विष्णु खरे • शलभ श्रीरामसिंह • शान्ति मेहरोत्रा • शिवकुटी लाल वर्मा • सकलदीप सिंह • हरि ठाकुर तथा........।

विशेष : लक्ष्मीकान्त वर्मा • एक एक्स्ट्रा : कुछ घोषणाएँ और स्थितियाँ देवेन्द्र गुप्त • एक दिवंगत कवि की पाँच कविताएँ ...त्स्ना मिलन • नयी गुजराती कविता

...षण अग्रवाल • रवीन्द्रनाथ त्यागी • श्रीकान्त ...रायण व्यास • राजकमल चौधरी....।

64514

Mahendra Jha
Lect. in Maithili
Saharsa College, Saharsa

राजकमल चौधरी : एक व्यक्ति !

सुधीर चौधरी
शम्भुनाथ मिश्र
कुमारेन्द्र पारसनाथसिंह
अतिबल
विद्याभूषण श्रीरश्मि

मेरे भाईजी

राजकमल चौधरी

•

सुधीर चौधरी

•

सन् १९४६। तेईस जनवरी। नेताजी का जन्म-दिन! शनिवार था और जाड़े का मौसम। स्कूलों की प्रातः कक्षाएँ मैदान में ही लग रही थीं। एकाएक सभी कक्षाओं से ज़ोरों का बिगुल बज उठा। स्कूल की सौ फ़ीट ऊँची छत पर तिरंगा लहरा चुका था और ग्यारहवें वर्ग का एक छात्र छत पर से ही चिल्ला उठा : इन्किलाब-ज़िन्दाबाद! और नीचे से लड़कों ने नारा लगाया : 'तिरंगा [illegible]ज़िन्दाबा[illegible] [illegible]' स्कूल के एक ओर थाना था और दूसरी ओर कचहरी और सरकारी खज़ाना। और खज़ाने पर तैनात सशस्त्र पुलिस। क्षणों में सिपाहियों ने स्कूल को दोनों ओर से घेर लिया और फूलराजा उतनी ऊँची [illegible] कर भाग निकले। मैं उस समय चतुर्थ वर्ग का छात्र [illegible] और हमारे पिताजी उसी स्कूल में प्रधानाध्यापक थे। वे फूलराजा मेरे बड़े भाई स्वर्गीय राजकमल चौधरी ही थे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कर्मठ कार्यकर्त्ता और शहर के सारे नवयुवक [illegible] लड़ाई में उनके साथ थे, और उनके बिगुल की एक ही आवाज़ पर [illegible] देने को तैयार रहते थे। सिर्फ़ इसी एक घटना के कारण ही नहीं, सैकड़ों इसी तरह की अन्य घटनाओं के कारण ही मैं उन्हें देवता-सा आदर देता आया था।

वैसे वे साधारण व्यक्ति थे। अपने मित्र श्री शम्भुनाथ मिश्र को उन्होंने लिखा भी था : 'छोटी-छोटी चीज़ों के लिए मेरे मन में भयानक कमज़ोरियाँ हैं। मैंने वक्त आने पर किसी दूसरे की सहायता नहीं की है। सिर्फ़ अपना ही स्वार्थ हमेशा मैंने देखा है।' और यह स्वीकारोक्ति एक सर्व-साधारण व्यक्तित्व का ही लक्षण है। फिर भी वे असाधारण व्यक्ति थे। 'रास-लीला' की तस्वीर देखकर, विभिन्न स्त्रियों के साथ कृष्ण के विभिन्न रूपों को देखकर, उन्हें जो प्रेरणा मि[illegible] उसे अपने जीवन में, अपने व्यक्तित्व में उन्होंने चित्रित करना चाहा। अलग-अलग व्यक्तियों के साथ, अलग-अलग समूहों के साथ, उनके अलग-अलग रूप सामने थे। साहित्यकारों के साथ वे साहित्यकार थे, परिवार के साथ पारिवारिक, राजनीतिज्ञों के साथ राजनीतिज्ञ, पियक्कड़ों के साथ पियक्कड़! अर्थात् कोई भी यह नहीं महसूस कर पाता था कि राजकमल हमारे अपने नहीं हैं।

पटना [illegible] के वे छात्र थे और उन्हीं दिनों अचानक वृक्ष पर से गिर जाने के कारण मेरा बायाँ हाथ टूट गया था। मैं सदर अस्पताल, पटना में भर्ती हुआ और महीनों रहना पड़ा। वे प्रतिदिन मुझे देखने आते और मुझे कभी कभी घुमाने भी ले जाया करते थे। वे मुझे बेहद प्यार करते थे। परन्तु कभी वे ऐसा अनुभव होने देने की कोशिश नहीं करते। मैं उन्हें कितनी श्रद्धा करता हूँ, वे सिर्फ़ इसकी परीक्षा ही लिया करते। हमारे पिताजी धार्मिक व्यक्ति थे और जात-पाँत की प्रथा के कट्टर अनुयायी। १९५२ में गया शहर से पाँच मील दूर हमारा एन० सी० सी० का कैम्प लगा था। भैया उस समय बी० एन० कॉलेज, पटना से गया कॉलेज [illegible] गये थे और उस कैम्प में, शहर से उतनी दूरी के बावजूद [illegible] जाया करते थे। [illegible] मान करते होते तो वे घंटों प्रतीक्षा करते और खाना खिला कर [illegible], इस तरह की असंख्य घटनाओं से हमने अनुभव किया था, वे ह[illegible] करते थे। इसी कारण जब पिताजी ने हमारा विवाह उनकी इच्छा [illegible] विरुद्ध कर डाला, तो वे बहुत दुःखी हुए और कलकत्ता चले गये। मात्र हमारी सौतेली माँ की प्रसन्नता के ही लिए पिताजी भाईजी से और हम अन्य [illegible] से दूर होते गये। और इसका भाईजी पर काफ़ी बुरा असर पड़ा था। [illegible]रकारी नौकरी से त्याग-पत्र देकर वे कलकत्ता चले गये और वहीं उन्होंने [illegible]ना आरम्भ किया। उनके जाने के कुछ ही दिनों के बाद पारिवारिक परेशानियों के कारण मैंने उन्हें लिखा, मैं

आपके पास ही रहकर पढ़ना चाहता हूँ। उन्होंने उत्तर दिया : 'यह कलकत्ता शहर अजीब जगह है। पिताजी और सौतेली माँ की घृणा बर्दाश्त कर सकते हो, तो वहीं रहो। जीवन से लड़ सकने की सामर्थ्य हो, तो यहाँ चले आओ।' और मैं वहाँ चला गया। पटना में जब वे सेक्रेटेरियेट में थे, तब भी मैं उनके साथ ही रहता था और कॉमर्स कॉलेज का छात्र था। वे हमेशा असामान्य जीवन बिताते रहे। 'बालाजू' (पटना) होटल में बैठकर वे शराब पी ... ते थे, परन्तु जब तक शराब का नशा टूट नहीं जाता, वे घर लौट ... र नहीं आते। वे भाभी को बेहद प्यार करते थे। रात ... बजे ही सही, लेकिन वे घर लौटते अवश्य, चाहे उन्हें चौरंगी से बारह मील दूर पूर्व पुतियारी पैदल ही क्यों न आना पड़ता। बाहर भले ही पेट भर आएँ, पर जब तक भाभी के हाथ का बना रूखा-सूखा वे नहीं खाते, उन्हें सन्तोष नहीं होता। खाना हमेशा हम लोग साथ ही खाते। और खाते समय सिर्फ़ पारिवारिक बातें होतीं। तय किया जाता कि कलकत्ता के 'इलिस' माछ और मिथिला के 'हिलसा' माछ ... में क्या अन्तर है! तय किया जाता कि कल ऑफिस से लौटते 'न्यू मार्केट' से भाभी के लिए चनाचूर जरूर लाना है। तय किया जाता कि लाला ने सरसों का तेल गड़बड़ दे दिया है और उसे ऑफिस जाते समय ही लौटाते जाना है। और तय किया जाता कि इस रविवार को हम लोग 'बोटेनिकल गार्डन' घूमने जाएँगे और लौटते समय 'मोकाम्बो' में खाना लेंगे। लेकिन सुबह होते ही वे सब कुछ भूल जाते। न चनाचूर आता और न हम लोग गार्डन ही घूम पाते। उनका कहीं न कहीं आवश्यक कार्य आ जाता और किसी दोस्त के साथ खिसक जाते। रात देर से घर लौटने पर वे भाभी से नित्य नया बहाना बनाते, नई कहानियाँ गढ़ते। भाभी को और मुझे कहानियाँ अच्छी ... और ... मिनिटों ... मुस्कुराहटों में बदल जाता। 'दिव्या' के जन्म के बाद उ... परेड ना। औ... परिवर्तन आया। उन्होंने 'सारिका' अप्रेल '६३ में दिव्या ... कहानी 'भयाक्रान्त' में लिखा है : 'वासन्ती के लिए सत... ... कोई चीज लाया हो, वासन्ती को याद नहीं। चार-... ... में कभी एक बार वासन्ती सत्यनारायण के साथ बाहर निक... है। साड़ियाँ, ब्लाउज-पीस, सत्यनारायण के लिए पैण्ट-कमीज ... कपड़े, चूड़ियाँ और ज्यादा पैसे रहे, तो कोई हल्का-... ... लेती है। सत्यनारायण अपनी इच्छा से कोई चीज़ नहीं लाता है— ... पिन तक नहीं। मगर सत्य-नारायण को ... छोटी-सी बेबी ने कोमल बना दिया है....कोमल और

...य के किसी कोने में स्नेहमय।'

...बार हमसे ही जीवन के रहन-सहन पर बहस छिड़ गयी और मैंने ...ी एब्नार्मलिटी की आलोचना की। उन्होंने कहा : 'मनुष्य तीन ...ह के होते हैं। एक वे हैं, जो समाज के, युग के पीछे पीछे चलते ...। दूसरे वे हैं, जो समाज के, युग के साथ चलते हैं। और तीसरे वे हैं, जो समाज के, युग के आगे-आगे चलते हैं। तीसरे प्रकार के व्यक्ति ही सृजेता कहलाते हैं। समाज का निर्माण करते हैं। साहित्य ... का निर्माण करते हैं।' वे अपने को इसी तीसरे प्रकार के व्यक्ति समझते ...। उनकी प्रतिभा के हम क़ायल थे। उनमें एक बड़ी ख़ूबी थी। कोई कहानी या क... या कुछ भी लिखने के बाद उसे कभी नहीं दुहराते। जब किसी पत्रिका से कहानी की मांग आती, एक घण्टे के अन्दर कहानी तैयार। एक बार तो मैंने देखा कि 'अनामिका' की ओर से कवि-गोष्ठी का आयोजन किया गया था। रविवार था और तीन बजे जब सोकर उठे, तो उन्हें स्मरण आया कि उन्हें गोष्ठी में ... भी सुनानी होगी। और ट्राम में बैठे ही बैठे उन्होंने कविता लिख डाली। उस कविता की बहुत ही प्रशंसा हुई। कलकत्ता में ही 'ज्ञानोदय' और 'रागरंग' छोड़ने के बाद एकाएक उन्हें पैसे कमाने की धुन सवार हुई। भाभी कलकत्ता से गाँव आ गई थी और मैं भी 'कॉलेज-होस्टल' में रहने लगा था। और पैसों के पीछे वे पागल हो गये। कई सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किये और काफ़ी पैसा कमाया। कुछ दिनों तक इसी कारण वे साहित्य की दुनिया से भी अलग रहे। बाद में भाभी के आ जाने के बाद फिर लिखना-पढ़ना शुरू हुआ और स्थिति सम्हली। 'रागरंग' उनकी कल्पना थी और 'रागरंग' के प्रकाशन से वे अत्यधिक प्रसन्न हुए थे। 'रागरंग'—२ में ही उनकी सबसे अच्छी कहानी ...ी समझ... 'ब्रस-स्ट्रॉक' ... । '... ये, टूटने के बाद ही ...ी मानसिक स्थिति बिगड़ी। कई गलत लोगों ने उनके जीवन में प्रवेश ... मैंने काफ़ी समझा-बुझा कर उन्हें कलकत्ता छोड़ने पर राजी कर... नवादा आ गये। नवादा कुछ दिन रह कर वे पटना आ गये और 'भ... में श्री शिवचन्द्र शर्मा के आग्रह पर नौकरी करने लगे। नौकरी उन्हें क... पसन्द नहीं आई और फिर वे स्वतन्त्र रूप से लिखने-...ने लगे। १९६५ ... में ही उन्हें पेट-दर्द हुआ, और वे लम्बी बीमारी ... चपेट में आ गये। २२ ... ६६ ... संध्या को भैया को मैं और भैया ...मौलि उपाध्याय जबरदस्... अस्पताल ले आये। तब हमारे पिताजी हमारे साथ अस्पताल नहीं आये ...। रात को दो बजे तक ऑपरेशन

होता रहा था। उन दिनों श्री शिवचन्द्र शर्मा जी उनके हितैषियों और भक्तों में से थे। माईजी के बार-बार आग्रह पर उन्हें टेलीफ़ोन किया मैंने। और शर्मा जी आये थे ज़रूर, नशे में धुत्त! शायद भैया को याद दिलाने कि शराब की बोतलों से बीमारी और पेट का दर्द भी भुलाया जा सकता है।

और भैया १९६६ के १३ अगस्त को लगभग स्वस्थ होकर अस्पताल से लौटे। एक अजीब प्रसन्नता छा गई थी हमारे परिवार में। डॉक्टर ने कहा था : 'लम्प' ... भी है अतः वे दिसम्बर-जनवरी में आकर ऑपरेशन करा लें। परन्तु भैया फिर दूसरा ऑपरेशन कराने अस्पताल नहीं गये। ... पुनः अस्वस्थ हुए और गाँव से सहरसा अस्पताल और सहरसा से १६ जून को फिर पटना अस्पताल। फिर वही कमरा, वही डॉक्टर। ऐसा लगता था—शायद भैया की मौत के लिए ही वह कमरा महीनों से खाली पड़ा था। जब मैं अस्पताल गया तो भैया बिस्तर पर ही मुझे पकड़ कर बिलख पड़े थे : 'सुधीर भैया, मुझे इस बार और बचा लो। जैसे कहोगे, वैसे ही रहूँगा। माँ-तारे की शपथ।' ... उनके ही सिर पर बच्चों की तरह हाथ फेरा था : 'चिन्ता मत करो, माईजी। आप ठीक हो जाओगे।'

मैं उनसे उम्र में काफ़ी छोटा था, परन्तु जब वे काफ़ी दुःखी रहते, परेशान रहते, तो मुझे वे पत्र लिखते थे। एक बार उन्होंने मुझे लिखा था : 'जब मेरी तबियत होती है, टेबुल पर पड़े शराब के सारे प्यालों को एकबारगी ही हाथ से ठोकर मार दूँ और वे झनझनाकर फूट जाएँ, तो तुम एक थरथराहट बनकर मेरे समूचे जिस्म में फैल जाते हो। जब मैं किसी जलते हुए रेगिस्तान में प्यासे हिरण की तरह भागता फिरता हूँ, चुल्लू भर पानी के लिए दौड़ता घूमता हूँ, तो तुम एक हसीन साये की तरह मेरे सा... ...हूँ। मैं आता हूँ और अपने बरफीले बिछावन पर सहम कर गिर जाता हूँ।'

हमारे भैया असाम्मान्य थे, परन्तु वे साधारण ढंग से रहने में अनुभव करते थे।

अपने उपन्यास 'मछली मरी हुई' में उन्होंने लिखा है : '... जानता था कि कल्याणी जैसी स्त्री ही प्यार कर सकती है। गृहस्थ स्त्रियाँ प्यार नहीं कर सकतीं। प्यार कर सकती हैं : आवा... ...। जिन्हें किसी चीज की परवाह नहीं है। जो सामाजिक मया... नहीं मानती हैं। नैतिक नियन्त्रण नहीं मानतीं। धर्म नहीं मा... हैं। ऐसी औरतें कदम-कदम पर देह बेचती चलती हैं, मगर मन नहीं बेचतीं। पत्नी बनकर भी नहीं।

वेश्या बनकर भी नहीं।' एक दूसरे स्थान पर : 'साधारण मनुष्य होने से बढ़कर सुख की बात दूसरी नहीं है, निर्मल।'

'असाधारण बनना, एब्नार्मल बनना अधिक कठिन नहीं है। आदमी शराब की एक बोतल पीकर असाधारण बन सकता है। दौलत का थोड़ा-सा नशा, यौन-पिपासाओं की थोड़ी-सी उच्छृङ्खलता, थोड़े से असामाजिक, अनैतिक कार्य आदमी को 'एब्नार्मल' बना देते हैं। कठिन है, साधारण बनना। कठिन है अपनी जीवन-चर्या को सामान्यता-साधारणता में बाँध कर रखना। प्रवृत्ति सहज है। कठिन है निवृत्ति।'

तीक्ष्ण दृष्टि, अथाह अनुभव, और अनूठी शैली में साधारण रूप से 'सत्य' का उद्घाटन उनकी विशेषता थी।

मैं साहित्यकार होता तो भैया पर एक मोटी-सी किताब लिखता। भैया की इच्छा थी—मेरा छोटा भाई सुधीर, जिसे उन्होंने 'माधव' नाम दिया था, एक बहुत बड़ा ... बने। चित्रकार अभी तक बन नहीं पाया हूँ। सोचता हूँ, अगर चित्रकार बन गया, तो मेरी मृत्यु के बाद भी कहीं मेरी कला को, मेरे चरित्र को, मेरे परिवार को गालियाँ देने वाला कोई शिवचन्द्र शर्मा फिर न पैदा हो जाय; कोई 'दिनमान' न आ खड़ा हो, कुलानन्द मिश्र के रूप में! डरता हूँ, यह अब गाँधी और बुद्ध का हिन्दुस्तान नहीं रहा, यह अब है श्री शिवचन्द्र शर्मा और नकली कुलानन्द मिश्र का हिन्दुस्तान!

● ●

सारे गुलशन को हमारी मायूसियों से
हमदर्दी तो है 'मासूम'
... नरगिस की आँखों में
आँसू नहीं ...

●

मासूम अजीमाबादी : बनाम राजकमल चौधरी

राजकमल मेरा मित्र

शम्भुनाथ मिश्र

विगत जून में राजकमल की मृत्यु के बाद सबसे पहला पत्र 'दर्पण' से, फिर 'युयुत्सा', 'निवेदिता', 'आरम्भ', 'संक्रामक' और 'आधुनिका' से पत्र आये—राजकमल पर लेख लिखने के लिए। उस समय [illegible] यही विश्वास दिलाना कठिन हो रहा था कि राजकमल इस संसार में नहीं है और अब उससे कभी भेंट नहीं हो पाएगी।

दुःख का अहसास कुछ कम होने के बाद, कई मित्रों ने और स्वयं मेरे अन्तर्मन ने कहा कि जब उक्त पत्रिकाएँ राजकमल-स्मृति-अंक निकाल रही हैं, तो राजकमल के नज़दीकी होने के नाते सहयोग अवश्य करना चाहिए, ताकि कम से कम उसकी स्मृति-रक्षा अवश्य हो सके।

लेकिन, राजकमल का नज़दीकी [illegible] ना ही इस सिलसिले में सबसे बड़ा बाधक बन गया। [illegible] पर लिखने के लिए कई बार अपने को तैयार किया—कुछ पंक्तियाँ लिखीं भी, मगर, संतोष नहीं हुआ। यह तय कर पाना कठिन था कि कहाँ से शुरू करके, कहाँ खत्म करूँ। [illegible] विराट रूप में मेरे सामने आता कि उसे समेटना मुश्किल था। लगा, आदमी जिसके जितना ही करीब होता है, उस पर कुछ भी लिखना, उतना [illegible] हो जाता है।

फिर भी, मैंने 'दर्पण' और 'निवेदिता' में संस्मरण किस्म की दो रचनाएँ किसी प्रकार लिख भेजीं। 'युयुत्सा' को राजकमल के पत्र भेज दिये और 'आधुनिका' को एक कविता। 'आरम्भ' में काफ़ी पहले का (जिन दिनों राजकमल के ठहाके गूंजते थे) एक लेख दिया। 'दर्पण' में संस्मरण पढ़ कर स्थानीय कुछ साहित्यिकों (विशेषकर, डा० काशीनाथ सिंह और श्री त्रिलोचन शास्त्री) ने मुझ पर आरोप लगाया कि मैं राजकमल के प्रति अन्याय कर रहा हूँ—मैंने उसे 'दया का पात्र' चित्रित किया है। दिल्ली से अतुल भारद्वाज ने लिखा कि मुझे इस किस्म [illegible] घटिया पत्रिकाओं में लिखने के बजाय, 'राजकमल : एक स्टडी' के [illegible] तौर पर लम्बी चीज लिख कर किसी अच्छी पत्रिका में सिलसिलेवार प्रकाशित कराना चाहिए, क्योंकि मैं राजकमल को अच्छी प्रकार समझ पाया था। कुछ अन्य लोगों ने कहा कि राजकमल के बारे में तटस्थ होकर लिखा जाना चाहिए—समीक्षा एवं मूल्यांकन की दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए।

मैंने सोचा, जो लोग इस प्रकार के सुझाव दे रहे हैं, उनमें से अधिकांश राजकमल और उसके साहित्य से परिचित हैं—फिर वे स्वयं राजकमल पर कुछ भी न लिख कर उस व्यक्ति की भावनाओं को ठेस क्यों पहुँचा रहे हैं, जिसने अपने भरसक अच्छा या बुरा, जैसा भी सही, कुछ तो लिखा। मेरे सामने अलकनन्दा दासगुप्ता और शशिप्रभा शास्त्री और मनमोहिनी के लेख आये। वे क्यों नहीं तटस्थ हो पायीं? राजकमल का अभिन्न चन्द्रमौलि उपाध्याय भावुकता [illegible] चन्द्र शर्मा ही 'अ-तटस्थ' होने से बच पाये क्या? फिर, मुझ पर ही ये सारे आरोप क्यों? क्या इसलिए कि राजकमल के [illegible] तम व्यक्तियों में से मैं था? क्या इसलिए कि उससे मेरे पारिवारिक सम्बन्ध थे? क्या इसलिए कि उसकी मौत को भुला सकना मेरे लिए अब तक नामुमकिन रहा है? क्या इसलिए [illegible] राजकमल के बाद उसके बजाय उसके परिवार की [illegible] मुझे अधिक सताती रही है?

मुझे लगता है, मैं राजकमल के प्रति कभी तटस्थ नहीं हो पाऊँगा। तटस्थता से समीक्षात्मक लेख शायद वे ही

लोग लिख सकेंगे, जिनका राजकमल से परिचय तो था, मगर, जो अपने को उससे 'अटैच्ड' महसूस नहीं करते थे। शायद, 'पेशेवर आलोचक' ही लिख सकें (और लिख भी रहे हैं), जिनके लिए व्यक्तिगत सम्बन्ध नाम की कोई चीज़ कहीं आड़े नहीं आती। मैं शायद उसके 'कृतित्व' पर या 'राज[illegible]मल : एक साहित्यिक अध्ययन' किस्म की चीज़ [illegible]लिख पाऊँ—क्योंकि, हम दोनों साहित्यिक चर्चा नहीं के बराबर करते थे (हालांकि, एक-दूसरे के लिए रचनाओं पर व्यक्तिगत राय का बड़ा महत्व था); क्योंकि मैं 'राजकमल : 'एक लेखक' के बजाय 'राजकमल : एक व्यक्ति' को अधिक जानता था; क्योंकि, उसकी मौत से मेरा एक अभिन्न मित्र हमेशा के लिए बिछुड़ गया है। 'साहित्य' को कितनी क्षति होगी, यह साहित्यकार जानें। सोचता हूँ, राजकमल पर कुछ भी लिखना ठीक न होगा, क्योंकि लोग अब संस्मरण की अपेक्षा 'समीक्षात्मक अध्ययन' पढ़ना ज्यादा पसन्द करते हैं; क्योंकि, लोगों को संस्मरण में संस्मरण-लेखक के आत्म-प्रचार की बू का आभास होता है। मुद्राराक्षस ने अच्छा किया कि अब तक उसने राजकमल पर कुछ भी कहीं नहीं लिखा। वह कहता है (और, ठीक ही कहता है) : 'अजीब बात है कि इतने सारे लेखकों ने राजकमल की मौत पर लिखा। मैं अभी तक एक लफ़्ज़ भी नहीं लिख पाया। शायद सकूँगा भी नहीं। [illegible] मौत के [illegible]क अजीब 'हॉरर' मेरा पीछा करता रहा है। शायद जो सिरिंज राजकमल की पेशियों में धँसकर आदमखोर बन गई थी, वही दिखाई देती है मुझे। सोते में नहीं, जागते में। सामना या पीछा करती हुई। कहते हैं, कभी किसी का पीछा [illegible] था शिव के लगातार बढ़ते जाते लिंग ने। कुछ [illegible]सी सूई। सिरिंज की।'

राजकमल की रचनाओं का 'पोस्[illegible]म' मुझसे नहीं हो सकेगा। अंगहीन शापित श[illegible] और मेरी स्थिति में फर्क ही क्या है? राजकमल का अभाव मुझे खलता है, और अक्सर उसकी याद उमरती है :

शून्य

(राजकमल चौधरी की मरणोत्तर याद में)

•

सूरज नहीं है
अंधेरा भी

शाम की परछाइयाँ चुप
कहीं क[illegible]डीं
गन्ध नहीं

किनारे
बालू की सतह पर
कोई परछाई नहीं उगती........

शम्भुनाथ मिश्र

मुर्दे मसीहों के बीच लावारिस पड़ी लाश

कुमारेन्द्र पारसनाथसिंह

अब, जब राजकमल नहीं रह गया है और उसे लेकर कुछ कहने की अनिवार्यता उत्पन्न हो गयी है, शुरू में ही यह साफ कर देना अच्छा लगता है, कि राजकमल मेरे लिए एक परिचित 'नाम' और 'गाँव' के सिवा और कुछ नहीं था। वर्षों पहले मेरे सामने—यहीं कलकत्ते में—एक हमउम्र को सामने लाकर जो नाम बताया गया था, वह यही नाम था। और फिर, ऐसे कई इत्तफाक हुए, जब यह नाम मेरे सामने अलग-अलग वर्णों में उभरता गया और आज सब मिलाकर मेरी आँखों के सामने एक गाँव खड़ा है, जिसमें कई-कई गलियां और कई-कई चौराहे हैं। कई-कई तरह के लोग और कई-कई तरह की ज़ुबानें हैं; कहूँ तो सब कुछ है, मगर खुद राजकमल ही नहीं है। राजकमल के पास आने के पहले ही परिचय कराने वाले व्यक्ति ने कहा था : 'कुमारेन्द्र, मैं तुम्हें एक आदमी से मिलाता... पर खयाल रखना, बहुत घटिया आदमी है।'

परिचय के बाद राजकमल मेरे सामने खड़ा रहा। ठीक-ठीक कहूँ तो एक निहायत शरीफ व्यक्ति के रूप में। फिर हम लोग बाहर आ गये और साथ-साथ करीब घण्टे भर पैदल चलते रहे। रास्ते में ही फुटपाथ की दुकान से शायद चाय भी पी ली गयी थी। इसी समय राजकमल कुछ बातों और (बेहूदे) प्रश्नों के माध्यम से अपना परिचय अपनी ज़बानी दे चुका था। उतने ही समय में मेरे अन्दर एक चिढ़-सी ... थी और मैं उससे नफरत करने लगा था।

फिर हमारा मिलना वर्षों तक नहीं हुआ। दूर से ही अपने विरुद्ध उठती हुई कई-कई आवाजें सुनता रहा, जिनमें कभी-कभार राजकमल की भी आवाजें शामिल कर ली जाती थीं। बीच-बचाव करने वाला कोई नहीं था, सिवा हमारी रचनाओं के। मेरी रचनाएँ मुझे उसके करीब कहाँ तक ले जा चुकी थीं, यह तो नहीं कह सकता; मगर अपनी रचनाओं के बल पर वह मेरे बहुत करीब आ चुका था। उससे मेरी असहमति अवश्य थी, मगर उस हद तक नहीं, कि उसकी भर्त्सना करने लग जाता। मैं उसे अपने परिवेश के कुछ बहुत ही उपेक्षापूर्ण अभावों की एक अनिवार्य परिणति के रूप में देखता रहा। और फिर ऐसा कभी नहीं हुआ, कि उसे नापसन्द ... लगूं। सच तो यह होता कि कहूँ, जब-जब मैंने उसे अपनी नज़र से देखा, वह मुझे बेहद पसन्द आया। बावजूद लोगों के यह कहने के कि राजकमल झूठा है, बदचलन यकीन करने काबिल नहीं, कर्ज करता है और शराब पीता है, उसके लिए कोई लड़की नहीं, बहू और माँ नहीं। औरत उसके लिए औरत है और पैशाचिक अहम् के सिवा और कुछ नहीं।

लोग कहते हैं तो कहें कि वे साफ हैं। मगर मैं कैसे कहूँ कि देह में मैल नहीं होता। राजकमल जब-जब मेरे सामने और मेरे साथ रहा, उसे मैंने फिर कभी भी कुछ ऐसा वैसा कहते नहीं पाया। एक निहायत मासूम बच्चे की तरह पास बैठ जाता, कॉफ़ी पीता। लेखक को लेकर भी जब (मुश्किल से दो-तीन बार) बातें हुईं, मैंने उसे आहिस्ते-आहिस्ते ही बोलते पाया। मेरे कुछ ऐतराज करने या सुझाव देने पर हर बार यही कहता : 'अच्छा भैया, इस बार मैं आपको सन्तोष दूँगा और काफ़ी सुधार लूँगा।' जबकि हमेशा मेरी इच्छा यही रही, कि वह जो और जैसा लिखता है, लिखता जाये—हो सके तो और निर्भीक होकर लिखे। और मेरी शिकायत आज उससे कोई हो सकती है तो यही कि आज तक वह उतना निर्भीक नहीं हो सका (कारणों में जिनसबर्ग और मलय आदि भी शामिल हैं) जितना मैं चाहता था। हालांकि वह उन लोगों से बहुत ज्यादा निर्भीक ... था, जो समय-समय पर निर्भीकता और नैतिकता का दावा करने के लिए आगे बढ़के भी बेशर्मी करते रहते हैं। राजकमल बेशर्म नहीं था। और जहाँ दोस्त था, सचमुच दोस्त था। बहुत कम लोगों को यह पता होगा, कि वह एक बहुत अच्छा (मगर दुर्बल और असहाय) पति ...। और जहाँ वह एक बाप था, उसका हृदय उसकी बेहोशी में भी अपनी बिटिया के लिए तड़पता रहता था और तड़पता इसलिए रहता था, कि अपनी बिटिया ... उतना भी नहीं कर पाता था, जितना चन्द परेशानियों से घिरे रहकर भी हम कर लेते हैं। उसके अन्दर का ममत्व हममें से किसी से कम नहीं ...।

बोतलों की किस्सागोई और हाँपती मछलियाँ :

राजकमल के सम्बन्ध में लोगों के कई-कई संस्मरण होंगे और वे सब के सब कुछ रोमाण्टिक होने के कारण बेहद दिलचस्प भी होंगे। जीवन भर वह उपेक्षा और अभाव को झेलता रहा; जीने के लिए ही सही, मगर जीने से ज्यादा मरने का अभ्यास करता रहा और ऐसा हुआ भी, कि उसका जीवन प्रायः मौत के साये में ही बीता। उसे अपने अन्त का पता था, फिर भी उसकी तारीफ यही थी, कि उस अन्त के आतंक को झेलते हुए भी एक नयी शुरुआत करने में लगा रहा। आखिरी दिनों में 'मुक्ति-प्रसंग' की रचना स्वीकृत समाज के अस्वीकृत जीवन के पक्ष में एक तीखी प्रतिक्रिया थी जो पूरी सफलता के साथ इसलिए नहीं व्यक्त हो सकी कि राजकमल का खून तब बहुत ठंडा पड़ गया था। यह असफलता रचनाकार की नहीं जितनी उसके शरीर की है। जहाँ बोतलों की सिम्फनी चलती रही है, वहाँ एक दूसरे के पीछे भागती-दौड़ती मछलियाँ भी रहती हैं और जब वे हाँपती रहती हैं, कहीं भी रोकी या पकड़ी जा सकती हैं। जिस समाज का ऐसी स्थिति को पैदा करने में कोई हाथ नहीं, उसका यह भी हक नहीं, कि वह इसकी सामान्य गति में दखल दे। मगर अपने ऊपर किसी बात की कोई जिम्मेदारी लिये बिना वह हमेशा दखल देने के लिए आगे आता है और इसीलिए इसे अपनी विद्रूपताओं को देखने के लिए राजकमल जैसा कोई आईना भी मिल जाता है। इसमें आईने का कोई दोष नहीं होता और जो कोई दोष हुआ भी तो यही कि वह उतना साफ नहीं हुआ कि उसमें देखने वालों को अपना चेहरा खूब साफ नजर आये। फिर भी वह आईना जो राजकमल है, इतना अन्धा नहीं, कि लोग उससे निश्चिन्त हो जायें; उसमें कम से कम इतनी चमक तो है ही कि जिन्हें उसमें अपनी सूरत नजर आने लगी है और वे [illegible] आमादा हैं।

तीसरे सच के बाद का एक झूठ

हमारी दुनिया में स्वीकृत होने वाला पहला सच यह था कि वाल्मीकि कवि नहीं, एक डाकू या हत्यारे थे। उसके बहुत बाद हमारे सामने आने वाला दूसरा सच यह था कि कालिदास या कि तुलसीदास [illegible] एय्याश और दरबारी थे। तीसरा सच निराला को लेकर [illegible] उसका [illegible]। वह यह कि निराला आदमी ही नहीं थे, कवि क्या होते? और इसलिए राष्ट्रपति-भवन में उन्हें दी गयी श्रद्धांजलि का अर्थ मात्र वाचिक रहा और उनके नाम पर जितनी योजनाएँ प्रस्तावित हुई, उन्हें खटाई में डाल दिया गया। यानी लोगों में समय रहते ही सूझ-बूझ आ गयी और वे अन्य जरूरी और महत्वपूर्ण कामों में लग गये। विगत और अभी चल रही कुछ सदियों के दौरान हमारे सामने ये तीन सच अवतरित हुए। अब एक झूठ सिर उठाने की कोशिश में है। जैसे नलिन जी चुक गये, राजकमल भी आहिस्ते-आहिस्ते शराब के नशे में मर गया। नलिन जी की किसी ने हत्या नहीं की थी, न ही राजकमल ने आत्महत्या की। और राजकमल ने जो आत्महत्या कर डाली तो उसके लिए कोई न कोई कारण तो होगा। मगर राजकमल ने आत्महत्या नहीं की क्योंकि उसके लिए कोई कारण नहीं मिलता और न ही [illegible] की जिम्मेदारी कबूल करने के लिए आगे आता है। यह सब झूठ है। सच यह है, कि नलिन जी जैसे चुक गये, राजकमल भी एक दिन मर गया क्योंकि वह जीने के बिल्कुल काबिल नहीं था।

जोहराबाई कहती थीं :

जोहराबाई का आप सबों ने नाम तो सुना होगा। और जो नहीं सुना हो, अब मालूम कर लीजिये। जोहराबाई अपने नगर की एक मशहूर तवायफ़ हैं। तवायफ़ों के साथ शरीर के सौदे का जो एक अपवाद लगा रहता है, वह उनके साथ नहीं है। हाँ, बिल्कुल नहीं है। उनकी ख्याति का कारण उनकी कला है। उनकी कोठी में कई-कई कन्याएँ हैं, कला-साधना में रत या पारंगत। कला-प्रेमियों की एक भीड़ जोहराबाई का अन्दाज देखने के लिए लगी रहती है। जो कुछ भी उनके मुँह से निकलता है, वह कला का सही प्रतिमान हो जाता है। लोग जाते हैं और कृतकृत्य होकर वापस चले आते हैं। वही जोहराबाई [illegible] थीं……देखिये ना! आज कल के कुलीनों की बात क्या की जाय! उनकी बहू-बेटियाँ……अल्ला माफ करे!! और हाथ सिर पर ऐसे मारती हैं जैसे कोई बहुत बड़ा गम हो और वह बैठे-बैठे वहीं उसमें गर्क़ हो गयी हों। वैसे ही 'दिनमान' कहता है और बहुत ग्लानि के साथ कहता है……कि राजकमल या कि राजकमल का साहित्य……। 'दिनमान' कहता है कि वह राजकमल का हमसाँस या कि हमसफर नहीं है, समकालीन भी नहीं है। जिस जमाने के दामन का दाग था राजकमल, उस दामन से 'दिनमान' का कोई सरोकार [illegible] कि वह एक 'पत्र' या कि 'संस्था' है जिसके मुँह से अपनी कम, [illegible] दूसरों की या पर्दे के पीछे छिपे किसी सूत्रधार की बातें निकलती हैं। और तब मेरे सामने एक नहीं, दो-दो जोहराबाई आ जाती हैं और मैं समझ नहीं पाता कि ठीक फरमानेवाली

कौन जोहराबाई हैं : वह या यह। फिर देखता हूँ, कि वह लाश जो राजकमल है, बिलकुल लावारिस पड़ी है और लोग अगल-बगल से अपना-अपना दामन बचाये, बड़ी सावधानी से गुजरते जा रहे हैं।

मगर इस पर भी मुझे कोई आश्चर्य नहीं होता। साहित्य में जब साहित्येतर या कुछ बहुत ही घटिया किस्म की प्रवृत्तियों का प्रवेश हो जाता है और वे बुर्जुआ संस्कारों में [illegible] प्रतिक्रियावादी तत्वों से सहारा पाकर अपने ज़माने के प्रतिनिधित्व [illegible] प्रामाणिकता का दावा करने के लिए आगे आती हैं तो [illegible] होता है। जो लोग राजकमल की क्रान्ति या साहसिकता को सही मानकर अपने समय के अहम सवाल को तरह देने में लगे थे, और कुछ सुविधाएँ पाकर या पाने की आशा में बुनियादी क्रान्ति पर पर्दा डाल रहे थे, उनसे आज इतना भी नहीं हो रहा है, कि राजकमल ने जितना देखा और स्वीकार किया, कम-से उतने को भी देखें और स्वीकार करें। राजकमल उनके लिए, उनकी समझ में कल और कुछ नहीं तो कम-से-कम एक हथियार तो था ही; मगर आज वह कहीं नहीं, कुछ भी नहीं है। उन्हें अपने सतीत्व की रक्षा के लिए आज यह दुहाई देनी पड़ रही है कि राजकमल से उनका कोई सम्पर्क नहीं था। उन्हें राजकमल से लात या तमाचा खाने की आशंका नहीं थी। इसलिए उन्होंने उसे अपने पास बुलाने की कोशिश की। फिर भी, राजकमल ने जो एक बहुत ज़रूरी काम किया, वह उनकी सुरुचि पर थूकना था। और मुझे सबसे ज़्यादा संतोष इसी बात से है, कि उसने इस काम की शुरुआत बहुत दिलेरी के साथ की।

राजकमल मेरा दोस्त नहीं था, मगर मेरे बहुत निकट था। और जो कुछ भी उसने किया, जैसे किया, वह सब मेरी समझ से बहुत ज़रूरी था। जन क्रान्ति का एक पक्ष वह [illegible] लिए जोखम उठाने की शक्ति हममें से बहुतों में नहीं है; ऊबड़-खाबड़ ज़मीन पर चलने और नदी-नाले तैरने की बात तो बहुत दूर की है।

शामिल नहीं रहना है साज़िश में

अतिबल

•

आज राजकमल नहीं है।

कल या अगले पल कोई और नहीं हो सकता है।

होने न होने का यह क्रम अनादि काल से चला आ रहा है। पर इससे अन्तर क्या पड़ता है? क्या पड़ा है? सूरज वैसे ही रोज़ आता है, चला जाता है। अब भी वैसी ही काली-काली रातें क्षणों में, पलों में घुलती जाती हैं। बस, जाने वाले की एक याद कसकती रह जाती है। उस सूची का एक नाम : राजकमल!

२० जून '६७—शशि भाभी का भाल सूना हो जाने के अगले दिन! पटना का एक विशाल कक्ष कुछ नामी-गिरामी साहित्यिक नेताओं का जमघट! उद्देश्य : राजकमल के कृत्यों का बखान, 'श्रद्धांजलि' जैसे पारम्परिक शब्द को कक्ष में लगे महान् लेखकों की फ्रेमों की बगल में चिपका देना।

सजे-बने चेहरों पर ज़बरन [illegible] मुस्कान [illegible] भावों का यदा-कदा छितरा जाना। और मैं मुस्कान की एक खास किस्म को पी जाता हूँ। लोग क्या कहेंगे? कहेंगे नहीं····सोचेंगे?

संशय की मुद्रा में 'एक' अपने गले की खराश मिटाने लगे। 'समझने वाले कुछ भी समझें, मगर था राजकमल जीवट का····' और अपने भाषण को पूर्णाहुति देते देते वे अपनी स्थिति को वोट मांगने वालों की-सी दशा को ले गये। इस बीच उन्होंने अपने और राजकमल के सम्बन्धों की बखिया उधेड़ डाली। कब-कब दस पैसे [illegible] राजकमल को खिलाये थे, कहाँ स्पेशल [illegible] पिलाई थी····और यदि यह [illegible] विदित तथ्य न होता कि राजकमल के पिता स्व० पं० मधुसूदन चौधरी थे, तो सम्भव है, वे महानुभाव आत्मीयता के दौरे में अपने आप को राजकमल का पिता घोषित कर डालते। और यदि मेरी

जानकारी गलत नहीं तो उन सज्जन से राजकमल का यदा-कदा का दुआ—सलाम भर का नाता था।

चन्द शाकाहारियों (दन्त-विहीन यथार्थ की विवशता) ने राजकमल को यथार्थवादी कहा, तो कुछ ने दबी जुबान से उसके मांसाहारी जीवन का खाता खोल दिया।

भाषण का दौर····खाली ... की ऊब उन्हें घड़ी की सुइयों में डुबोती रही। मेरे मेहमान पाँव स... ...र।

और ...

...ढ़ती हुई चर्चाएँ, शोक-सभाएँ? शिखण्डियों के जन्म के समाचार। और इन सबसे दूर नीलू माँ की आँखों से बहती धारा का अर्थ समझने की असमर्थता में सहमा-सहमा। अबोध मुक्ता की प्रतीक्षा कि कब काका (राजकमल के बच्चे उसे काका ही कहते थे) लौट कर आएंगे। और नटखट दिव्या पर दुर्दैव द्वारा असमय लाद दी गयी गम्भीरता! स्मृतियों का एक अटूट क्रम····एक पड़ाव····।

'मुख्तसर में है हमारी दास्ताने जिन्दगी।
इक सुकूने दिल की खातिर उम्र भर तड़पा किये।'

आकाशवाणी पटना से श्रद्धांजलि····। उद्घोषक का स्वर जाना-सा लगता है ....हाँ, गंगेश गुंजन।

एक थकी दोपहरी—नवल स्टूडियो। गाढ़े गुलाबी रंग के कुर्ते की जेब से ...पनी इधर की संगिनी चिलम निकाल ली थी राजकमल ने।

'...।'····गंगेश से कहा गया था। गंगेश चुप रह गया था। तीनों दृष्टियाँ एक दूसरे के चेहरे के प्रश्नों में उलझी थीं।

'हाँ, तुम्हें कौन पीड़ा है जो गांजा पियोगे?' राजकमल ने चेहरे पर छाये धुएँ के हटते ही गंगेश को अजीब तरह से घूरा था, एक अजीब छटपटाहट···· एक चिरपरिचित नकार अपनी आँखों में घोलते हुए। और हम दोनों एक दूसरे को ताकते रह गये थे। इक सुकूने दिल की खातिर····।

राजकमल शराबी था, फरेबी था, गैरजिम्मेदार, वेश्यागामी····जाने क्या क्या था। उसने स्वयं कभी नहीं कहा कि वह क्या नहीं है, वह क्या है। सबके लिए वह छोड़ गया है प्रश्न।

मुक्तिप्रसंग के पृष्ठ ...रफराते हैं।

'आदमी को तोड़ती नहीं लोकतांत्रिक पद्धतियाँ / केवल पेट के बल उसे झुका देती हैं / धीरे धीरे अपाहिज / धीरे धीरे नपुंसक बना लेने के लिए / उसे शिष्ट राजभक्त देशप्रेमी नागरिक बना लेती हैं।

और

आदमी को इस लोकतंत्री संसार से अलग हो जाना चाहिए / चले जाना चाहिए कस्साबों गांजाखोर साधुओं, भिखमंगों, अफीमची रंडियों की काली और अन्धी दुनिया में, मसानों में।

अधजली लाशें नोचकर खाते रहना श्रेयस्कर है / जीवित पड़ोसियों को खा जाने से / हम लोगों को अब शामिल नहीं रहना है

इस धरती से आदमी को हमेशा के लिए खत्म कर देने की साजिश में।' ● ●

राजकमल : यथार्थ की खोज में भटकता इन्सान

विद्याभूषण श्रीरश्मि

●

कहते हैं, मृत्यु सभी विवादों को समाप्त कर देती है। पर राजकमल के संदर्भ में ऐसा नहीं हुआ। ऐसा लगा, जैसे लोग उसके मरने का इन्तजार ही कर रहे थे। इधर उसने आँख मूंदी और उधर लोगों ने, विशेषकर उसके निकटवर्ती मित्रों ने, अपने मन की भड़ास निकालनी शुरू कर दी। किसी ने कहा: 'अच्छा हुआ, साला मर गया। पूरे न्यू राइटिंग को करप्ट कर रहा था।' तो किसी ने कहा: 'कौन कहता है, राजकमल में प्रतिमा थी? वह साला ...फ्रॉड था, फ्रॉड।' कुछ ऐसे लोग भी जरूर सामने आये, जिन्होंने राजकमल की ईमानदारी स्वीकार की। पर उसे 'अच्छा आदमी' कहने वाले ...लाल गुप्त जैसे सीधे-सादे इन्सान कम ही ... ...दीपसिंह ने उसे, एक साथ ही झूठा, अनैतिक, कामुक, भ्रष्ट, जाली, नकलची, कुण्ठित, कुटिल, समझौतापरस्त, शराबी, अपराधी, वेश्यागामी, सब-कुछ कह डाला। शिवचन्द्र शर्मा ने उसे 'अपनी पीढ़ी का धनुष-टंकार (टिटनस)' बताया और नागार्जुन ने प्यार से 'दुष्ट' कहते हुए 'बड़ा ही विचित्र प्राणी'। उसके अति प्रिय मित्र चन्द्रमौलि उपाध्याय ने 'दक्षिण और वाम के मध्य की गम्भीर नारकीयता का कलाकार' कह कर ... श्रद्धांजलि अर्पित की। ...विमंगलसिंह ने राजकमल की मातमपुर्सी ...राम, ...श, स... का दौर आवश्यक माना और ओमप्रकाश दीपक ने उसकी मातमपुर्सी ...सबसे बड़ा अपमान बताकर अपने समाजवाद की रक्षा की। कुछ नौसिखिया कॉमरेड उसे 'वियतनाम का योद्धा'

कहकर अ… ंसी उड़वाने से भी बाज न आये। हाँ, अजितकुमार ने अवश्य ऐसा कुछ कहा, … हल्के से टाला नहीं जा सकता। उन्होंने कहा—'……… हम अपने आपको इस खयाल से बचा न पाएँगे कि अकाल मृत्यु के कारण वह लेखक, जो अपने मन में भीतर ही भीतर, कहीं निराला, भुवनेश्वर या 'उग्र' बनने का सपना संजोये हुए था, म… 'एक रंगीन व्यक्तित्व' बन कर रह गया।'

वास्तव में, क्या था राजकम…? क्या चाहता था वह? जहाँ तक मैं समझता हूँ, वह एक साधारण …ान था, पर असाधारण बनने की उसकी हार्दिक आकांक्षा थी। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए, असाधारणत्व का मार्ग पाने के …ए, वह गलत-सही गली-कूचों में जीवन भर भटकता फिरा। शशिप्रभा शास्त्री के नाम अपने १८ जुलाई, १९५८ के पत्र में उसने लिखा था:

'वैसे, बहुत मानसिक उलझनों और दार्शनिक विक्षिप्तताओं में पड़ गया हूँ। मानव-जीवन का उद्देश्य क्या है? सौंदर्य-बोध की भावना का मूल स्रोत कहाँ है? भौतिक शास्त्र के सूत्रों में अन्तर्निहित महासत्य के दर्शन कैसे कर सकूंगा, समझ में नहीं आता। गीता का निष्काम कर्मयोग अथवा मार्क्स का डालेक्टिकल मेटेरियलिज्म कुछ सहायता नहीं कर पाते। योगवासिष्ठ बेकार लगता है। मेरी आत्मा की गार्गी के तर्कों का समीचीन उत्तर मेरे दिमाग़ का याज्ञवल्क्य नहीं दे पाता और मैं विकल हो जाता हूँ।' दो वर्ष बाद, १६ अप्रेल, १९६० को, उन्हीं के नाम एक पत्र में उसने पुनः लिखा: 'मुझे स्वयं अपनी पीड़ा समझ में नहीं आती है, न इस नासमझी का इलाज ह… आता है। मैं नहीं जानता कि मुझे क्या चाहिए। मैं नहीं जानता कि मु… क्या नहीं चाहिए। लगता है, मझे सारा-कुछ चाहिये।' वस्तुतः राजकम… की अवस्था एक शिशु की भांति थी, जिसे अपनी भूख का एहसास नहीं होता… कर कुछ अस्वस्थता अनुभव कर जो लगातार रोता चला जाता है।

सर्वविदित है, राजकमल का जन्म एक सामान्य परिवार में हुआ। उसकी बाल्यकालीन परिस्थितियाँ भी तदनुसार ही सामान्य रहीं। शासकीय चाप और शोषण, सामाजिक अन्याय और उत्पीड़न, पारिवारिक गतिरोध और अभाव, इन सबसे उसका सामना हुआ। भावुक मन, गहरी रेखाएँ खिंच गयीं उस पर। आज तो फिर भी गनीमत है, लोग एम० ए० और डॉक्टरेट करने के बाद अन्याय और संत्रास के नारे लगाते हैं; दो सौ, तीन सौ की जगह एक हज़ार रुपये …सिक वेतन से जीवन … की माँग करते हैं; … उन दिनों अंगरेजी राज था—…क पद्धतियाँ …रों के लिए हाई स्कूल की शिक्षा सुलभ न थी, पचास रुपये के … के लिए भी वे मुहताज थे। इन सबके ऊपर उनकी जुबान पर ताला था। वे अपनी मर्जी के मुताबिक कुछ भी बोल सकने के लिए आज की तरह स्वतन्त्र न थे। परिणामतः राजकमल के अन्तर में आग सुलगती रही, वह अन्दर ही अन्दर कसमसाता रहा और ज्यों ही अवसर मिला, स्वस्थ सुन्दर जीवन के संधान में निकल पड़ा। अन्याय, अत्याचार, शोषण, विद्वेष की सदा के लिए …माप्ति, उसका काम बन गयी।

पर दुर्भाग्य! उसका धैर्य लक्ष्य की महानता की …लना में अपर्याप्त सिद्ध हुआ; वह संक्षिप्त मार्ग की भूलभुलैयों में फंस गया। उसकी …दशा उस फैशनपरस्त समाजवादी की-सी हो गयी, जो व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं …मोह नहीं तज सकने के कारण पूंजीपतियों के उन्मूलन के लिए स्वयं भी पूंजीपतियों … अनुसरण करने लगता है। परिणामतः कुछ नये मनसा पूंजीपति पैदा हो जाते हैं, गरीबों के शोषण की मात्रा घटने के बजाय और बढ़ जाती है। वे समाजवादी या साम्यवादी पूंजीपतियों या जमींदारों से किस प्रकार भले कहे जा सकते हैं, जो अपने बीवी-बच्चों को भूखा रखकर सारी कमाई शराब में झोंक देते हैं; अपनी संध्याएँ रेस्तराओं की महफिल सजाने में बिता देते हैं; दो या दस रुपये में मजबूर लड़कियों के शरीर खरीदते हैं और फिर अभाव, शोषण और संत्रास के नारे लगाते हैं। बदकिस्मती से ऐसे ही पोंगापन्थियों के चक्कर में राजकमल फंस गया और न्याय-विवेक का दीपक बुझा कर शास्वत सौन्दर्य का पवित्र लक्ष्य पाने की निरर्थक चेष्टा करता रहा। कभी-कभी अपनी इस अवस्था पर उसे खीझ होती थी, वह अपने आपको कोसता था, लेकिन फिर अपनी चारित्रिक दुर्बलता को परिस्थितियों का परिणाम बताकर खुद को धोखा देता था। उसके ये शब्द देखिये: 'मैंने हमेशा वही किया है, जो मुझ जैसे शारीरिक और मानसिक हैसियत के आदमी को नहीं करना चाहिए; बल्कि यों कहा जाये कि मैंने स्वयं कुछ भी नहीं किया है, परिस्थितियाँ ही मुझ से विपरीत कार्य कराती रही हैं।' स्पष्ट है, 'विपरीत कार्य' उसने किये चाहे जिस कारण से किये।

पर वह हमेशा अपने आप को छलता रहा, ऐसा भी नहीं है। उसने अनेक वार यह बात खुलकर स्वीकार की कि दोष उसका अपना था, इसके लिए कोई और दोषी नहीं है। शम्भुनाथ मिश्र के नाम उसने जनवरी १९६६ में एक पत्र लिखा था—'……… मैं अच्छा आदमी नहीं हूँ। छोटी-छोटी चीजों के लिए मेरे मन में भयानक कमजोरियाँ हैं। मैंने स्वयं वक्त आने पर किसी दूसरे की कोई सहायता नहीं … अपना ही स्वार्थ हमेशा मैंने देखा है। शायद औरत, पैसा, ऐश-आराम, यश, सारी बातों के लिये मैं अपने आपको और अपने आन्तरिक समाज को ठगता रहा हूँ। सच क्यों नहीं, मैंने सिर्फ़ झूठ की जिन्दगी बसर की है।' इसी क्रम में उस साहित्यकार-जगत

की भी एक झांकी देखिये, जिसमें राजकमल रहता था और जिसके प्रति उसके मन में गहरा आक्रोश था। राजकमल के ही शब्दों में : 'मैं अपने अनुभव और समकालीन लेखकों-कवियों से अपने सम्पर्क के कारण जानता हूँ कि नयी पीढ़ी किसी प्रकार के भी नैतिक उद्देश्य अथवा बुद्धि अथवा बोध से परिचालित नहीं हो रही है। यह परिचालित हो रही है, अपने स्वार्थ, अपनी अस्तित्व-रक्षा और अपनी लिप्साओं से।........देश और समाज, कम-से-कम अपने देश और समाज, के ... में अगर वह चिन्ता करता है या किसी जुलूस या झंडे के ... शामिल हो जाता है, तो इसका कारण कोई नैतिक उद्देश्य नहीं होता, अधिकांशतः कोई शारीरिक स्वार्थ होता है। मैं अपने कुछ लेखक दोस्तों को जानता हूँ, जो कहीं से अनुवाद का कोई काम पाने के लिए या अपने राज्य की विधान-परिषद का सदस्य बनने के लिए, या कॉगनक शराब की बोतलों के लिए, इनसे बड़े या इनसे छोटे शारीरिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए, बड़ी आसानी से अपना झंडा, अपना जुलूस, अपने नारे और अपने चेहरे की नक़ाब बदल लेते हैं। नक़ाब बदलना तो नैतिक उद्देश्य नहीं है।'

अपनी जीवन-चर्या से वह मन-ही-मन कितनी घृणा करता था, यह इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है : 'हम लोग अपने चौबीस घंटों में चौबीस घंटे किसी टी-हाउस में, या किसी श्रीसम्पन्न कवि मित्र या रसिक मित्र के ड्राइंग रूम में, किसी साहित्य-संस्था या सम्मेलन की कालीनों पर मसनद के सहारे किसी आत्म प्रचार-योजना में, अथवा किसी शराबघर, दवाघर, नींद-घर में अकेले या किसी मित्र या किसी स्त्री के साथ, किसी मंच पर, किसी रंगमंच के पार्श्व में, किसी एकान्त कमरे में बन्दी, हताश और शारीरिक स्वार्थों के प्रति आशंकित अथवा आशान्वित रहते हैं हम लोग।.........इसके साथ ही ... अपनी तथाकथित प्रगतिशीलता, दायित्व-बोध, नैतिक उद्देश्य, प्रतिबद्धता— ... निरीह शब्दों को सार्थक करने के लिए—और अपने चेहरे पर नक़ाब डाल कर अपने भीतर के पशु, भीतर के भूखे, नंगे और लोलुप पशु को छिपाने के लिए—वक्तव्य देते हैं, कविता लिखते हैं और सुख-सुविधा के साथ ऐसा सम्भव हो सका, तो अकाल-घोषित क्षेत्र का दौरा कर आते हैं।'

दरअसल, राजकमल की यह आत्म-स्वीकृति ही उसे साधारण लोगों से अलग कर देती है। यह सिद्ध कर देती है कि वह एक साहसी आदमी था और अपना लक्ष्य कभी उसकी आँखों से ओझल नहीं हुआ ... पर वह पूरी तरह असाधारण नहीं बन सका, क्योंकि क्षुद्र संसर्ग ने उसे एक साधारण मनुष्य की कमजोरियों से उबरने नहीं दिया। अपने अन्तिम दिनों में उसे परम-यथार्थ की जो प्रतीति हुई, यदि वह उसके अनुसार चल पाता, तो बहुत सम्भव है, हिन्दी का

तालस्ताय बन जाता। वह प्रतीति क्या थी? जनवरी १९६६ में शम्भुनाथ मिश्र के नाम अपने पत्र में उसने इसे व्यक्त किया था। उसने लिखा था : 'अपनी सीमाओं को समझना चाहिए। जो आदमी अपनी सीमा, शारीरिक और मानसिक सीमा, समझ नहीं पाता, वही झूठ की जिन्दगी बिताता है। इतना अकल्पनीय विराट् ब्रह्माण्ड है, जिसके भीतर हमारा यह सौरमण्डल मेरे टेबुल पर पड़े इस पेपरवेट से भी छोटा है। और ... यह पृथ्वी कितनी छोटी है और इस पृथ्वी पर रहने वाले हम लोग कितने छोटे हैं। यह छोटापन हमारी सीमा है। हमें अपने शरीर से बड़े होने की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। आकांक्षा मैंने की थी, और यह आकांक्षा ही मेरी झूठी जिन्दगी थी।' कितने बड़े सत्य के निकट पहुँचा वह। भौतिक जगत् में हर भूत की अपनी सीमा है—सीमाहीन केवल वही हो सकता है, जो भूत नहीं है, अर्थात् शरीर नहीं, आत्मा अनन्त विशालता प्राप्त कर सकती है; मनुष्य को आध्यात्मिक विकास के लिए असीम अवसर उपलब्ध हो सकते हैं। पर पाश्चात्य भौतिकवाद से प्रभावित लोगों के लिए यह सत्य शायद सहज ग्राह्य नहीं है, क्योंकि इसका मार्ग कठिन है—संक्षिप्त-अस्थायी प्रभाव-सम्पन्न भौतिक साधनों से ही चिरंतन समस्याओं के स्थायी समाधान की वे कल्पना करते हैं और फिर हार कर माथा पीटते हैं।

जो लोग यह माने बैठे हैं कि राजकमल सर्वथा उन्मुक्त अथवा उच्छृंखल समाज का हामी था, वे भी सम्भवतः उतने ही भ्रम में हैं, जितना उसे कॉमरेड अथवा 'वियतनामी योद्धा' मानने वाले। क्षणिक आवेश में आकर उसने चाहे जो तर्क पेश किये हों, वास्तव में वह पक्का भारतीय था—भारतीयता से उसे बेहद प्यार था। इस देश की मिट्टी, सभ्यता और संस्कृति में उसके प्राण बसते थे। उसमें जो भी विद्रोह और आक्रोश था, ... प्रचलित बुराइयों के प्रति, स्वयं भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रति नहीं। उसने वाममार्ग ... ढूँढा, तो बुद्ध का। अस्पताल में पढ़ने के लिए उसने पुस्तकें मँगवायीं, तो वेदान्त दर्शन, ब्रह्मसूत्र और उपनिषद्। चिकित्सा-पद्धति उसने सराही, तो आयुर्वेदीय। शशिप्रभा शास्त्री को उसने न केवल बड़ी बहन कह कर पुकारा, बल्कि समय-समय पर उनके आशीर्वाद की भी कामना की। चन्द्रशील उपाध्याय की पत्नी श्रीमती मनमोहिनी जैन से भी उसका सम्बन्ध ...-बहन का ही रहा। स्वयं मुझसे वह ... तरह कतराता रहा, जैसे कोई शरारती छोटा भाई बड़े भाई से कतराता है और जब अस्पताल में मैंने उसे जा पकड़ा, तो उसकी आँखें भर आयीं। वह लेटा नहीं रह सका, ... गया और अपने पूर्ववर्ती कामों के लिए खेद प्रकट कर भविष्य सुधारने का मुझे वचन

दिया। ऐसी अनेक देवियों को भी मैं जानत्ीं हूँ, जिनके सामने वह श्रद्धावनत होता था। फिर मैं कैसे मान लूँ कि ... स्त्री को ... कामिनी ही मानता था, बड़े-छोटे का उसे कोई लिहाज ... न था और परिवार तथा समाज को वह व्यर्थ की ही चीजें समझ ... कर चलता था। यदि ऐसा होता, तो अपनी पत्नी और बच्चों के लिए ... अन्तिम वेला तक परेशान न रहता। अस्पताल में दस महीने बि... बाद उसने लिखा भी : 'बेहद जरूरी बात है यह सम... बल्कि अन्तिम रूप से यह समझ लेना कि : परिवार, समाज और देश : इन संस्थाओं के बिना वर्तमान मनुष्य-व्यवस्था में जीना सम्भव नहीं है।' श्रीराम शुक्ल को भी एक पत्र में उसने लिखा : 'कविता में स्त्री-शरीर अन्य सभी विषयों की तरह मात्र एक विषय है—कविता का कारण या कविता का प्रतिफल नहीं, मैं ऐसा ही मानता हूँ। अब कविता के लिए हमारी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परतन्त्रताएँ अधिक आवश्यक विषय हैं।'

अन्त में राजकमल की साहित्य-सृजन क्षमता पर दो शब्द। जो लोग उसे प्रतिभाहीन मानते हैं, उनके प्रति पूर्ण आदर-भाव रखते हुए, मैं कहना चाहूँगा कि वे या तो किसी पूर्वाग्रह के शिकार हैं अथवा उन्हें कुछ ग़लतफ़हमी हुई है। राजकमल की साहित्यिक क्षमता निस्सन्देह असाधारण थी—वह मूलतः एक साहित्यकार ही था, किसी मतवाद का पोषक नहीं। उसकी कई रचनाएँ साहित्यिक दृष्टि से उच्च कोटि की भी हैं। किन्तु अपनी रचनाओं से वह स्वयं संतुष्ट नहीं था। 'मैं अभी मरना नहीं चाहता। अभी तो मैंने कोई अच्छी-सी चीज़ भी नहीं लिखी।' उसने ये शब्द औरों के साथ-साथ ...काश जैन को भी लिखे थे। पर इसका अर्थ यह नहीं लगाया जाना चाहिए ...उसने सचमुच केवल कागज काला किया। दरअसल, इससे यह साबित होता है कि वह एक ज़िन्दा साहित्यकार था, चुका हुआ साहित्यकार नहीं। पर अफ़सोस, उसकी सभी रचनाएँ उस काल की हैं, जब वह यथार्थ का अन्वेषी एक साधारण मनुष्य था। परम यथार्थ को जब उसने प्राप्त किया, और जब हम उससे महान् कृतियों की अपेक्षा कर रहे थे, तब, हमारा दुर्भाग्य हमसे ...क वह ईश्वर को प्यारा हो गया और हमारे लिए बच गयी, केवल एक का...है। जिसकी हम तरह-तरह से व्याख्या करते फिर रहे हैं। ● ●

राजकमल चौधरी : मूल्यांकन

राजीव सक्सेना
हरदयाल
चन्द्रमौलि उपाध्याय
शलभ श्रीरामसिंह
केदारनाथ अग्रवाल
परमानन्द श्रीवास्तव
शिवकुटीलाल वर्मा
घनश्याम शलभ
विजय बहादुरसिंह
अलकनन्दा दासगुप्ता
सुरेन्द्र चौधरी
धर्मेन्द्र गुप्त
मधुरेश
परेश
विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
भारतरत्न ...व
प्र... ...झा
जीवकान्त झा
धीरेन्द्र

राजकमल चौधरी : मिथक और यथार्थ

राजीव सक्सेना

राजकमल चौधरी ने अपनी अंतिमतम टिप्पणियों में से एक में लिखा था : 'मैं, राजकमल चौधरी, अपनी तरफ़ से जनता के पास वापस चला जाने का वायदा करता हूँ—मेरी सही यात्रा वहीं से प्रारम्भ होगी।' (आलोचना, ३८) सही यात्रा के लिए जनता के पास जाने की बात एक संदर्भ विशेष में कही गई थी। १९६७ के चुनावों में देश के जीवन में एक युगान्तर उपस्थित हो गया। किन्तु, राजकमल खतरा भी देख रहा था। उसने कहा : 'देश की समस्त राजनीतिक पार्टियाँ यह समझने लगी हैं कि अब अधिक देर तक जन-साधारण के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।....सूखे और भुख-मरी के कारण जनता शासन के तौर-तरीकों से ऊब गयी है....लेकिन इस 'महान्' ऊब का सारा लाभ देश की प्रतिक्रियावादी संस्थाओं और दक्षिणपंथी पार्टियों को भी मिल सकता है। जो बात दिल्ली या मद्रास में हुई है, वह दूसरे राज्यों में भी दोहराई जा सकती है। क्योंकि जनता परिवर्तन चाहती है, जब कि परिवर्त्तन के स्वरूप की उसे कल्पना नहीं है और न किसी भी वामपंथी राजनैतिक दल के सिद्धान्तों और योजनाओं को जनता ने स्वीकार किया है।....ऐसी परिस्थिति में, बुद्धि-जीवियों का; खासकर, लेखकों और कवियों का यह सामाजिक कर्त्तव्य होता है कि वे जनता को सही जानकारी दें—उसकी स्थिति [illegible] में और उसकी मुक्ति के विषय में।'

सही यात्रा को सामाजिक कर्त्तव्य से जोड़ने की बात राजकमल के मुंह से

कितनी अटपटी लगती है! अपने लेखन के प्रारंभिक वर्षों में राजकमल ने अपनी जो 'इमेज' बना ली थी, उसके साथ इस कथन की संगति प्रतीत नहीं होती। किन्तु 'सामाजिक कर्त्तव्य' से राजकमल का वह मंतव्य न था जो अक्सर हमारे बुजुर्ग समझा करते हैं। बुजुर्ग हमें उच्छृंखल या सामाजिक कर्त्तव्य से शून्य समझते हैं तो इसलिए कि उनकी राय में हम स्थापित मान-मूल्यों के अनुसार नहीं चलते। राजकमल ने इस कर्त्तव्य-भावना को एक सामाजिक क्रांतिकारी के अर्थ में ग्रहण किया था। अपनी मृत्यु से थोड़े ही दिन पहले 'जनशक्ति' साप्ताहिक में एक लम्बा लेख लिखकर उसने इस स्थापना पर विस्तार से प्रकाश डाला था। उसने कहा था :

'हम लोग केवल अपने पूर्ववर्त्तियों की वैचारिक मान्यताओं की कड़ी नहीं हैं। —हम लोग उनकी जीवन-धारा की दिशाओं को भी अपने जीवन में बदल नहीं पाये हैं।....हम मशीन नहीं बने हैं, और हमें इस बात की पूरी स्वाधीनता है कि हम पूंजीवादी अर्थतंत्र और शासनतंत्र के विशाल आक्टोपस की बातों में गला फंसाने से इन्कार कर दें। लेकिन यह इन्कार तटस्थ, दयनीय आत्मपीड़ाओं से भरा हुआ नहीं होगा। इस इन्कार में एक मजबूत और ईमानदार आदमी और उसके साथ जुलूस की ताकत होगी।'

और : 'लेखक, जो कोई सही अर्थ में आधुनिक है और बुद्धिजीवी है, उसे अपने जीवन और अपने समाज के हर मोर्चे पर पूरी सच्चाई, पूरी ईमानदारी के साथ पक्षधर होकर, क्रांतिकारी होकर, अपने वर्ग, अपने समूह, अपने जुलूस का मुखपात्र प्रवक्ता बनकर, सामने आना होगा—उसे आखिरी कतार में सिर झुकाये खड़े रहना नहीं होगा।'

इस प्रकार आधुनिकता को क्रांतिकारी परिप्रेक्ष्य में रखकर राजकमल अपने से एक नयी मांग कर रहा था। इस मांग को वह कैसे पूरा करता, यह सच-मुच दिलचस्प होता। दुर्भाग्य से वह इसके लिए जीवित न रह सका। राजकमल की ये सारी बातें स्वयं उसके लिए नयी थीं, उसके जीवन में एक नये मोड़ का चिन्ह थीं, लेकिन हिन्दी के लिए कोई नयी नहीं हैं। मुक्तिबोध से लेकर आज के अनेक कवियों तक ने यह अनुभव किया है कि एक नाटकीय और प्रदर्शनकारी आक्रोश लोगों के मनोरंजन का साधन हो सकता है, इससे अधिक कुछ नहीं। विचित्र मुद्राएं, उपहासास्पद वेशभूषा [illegible] शाकिंग अभिव्यक्ति उन वर्गों का कुछ नहीं बिगाड़ती, जो समाज [illegible] के लिए जिम्मेदार हैं। उल्टे, इस प्रकार के कार्यों से उनकी स्थिति सुदृढ़ होती है, क्योंकि वे ऐसे 'विद्रोहियों' को समाज से [illegible] अकेला और प्रभावहीन बना देते हैं।

राजकमल को सही यात्रा का बोध होता है, मृत्यु से साक्षात्कार [illegible] स्थिति में। एक ऐसी स्थिति में, जब पिछली मान्यताओं के आधार पर आगे बढ़ना, जी[illegible] रहना, असम्भव था—हाँ, [illegible] ऐसी स्थिति में जब समस्त पिछले जीवन का मूल्यांकन करते हुए अपूर्ण निष्[illegible] का बोध होता है। अस्पताल में पड़ा हुआ राजकमल एक वि[illegible]म दृष्टि डालता है अपने व्यतीत पर :

> 'लिखने पढ़ने [illegible] गांजा अफीम सिगरेट पीने मरने का
> एकमात्र कमरा
> अंदर से बंद करके दोपहर दिन के पसीने पेशाब वीर्यपात
> मटमैले अंधेरे में लेटे हुए
> धुआं क्रोध दुर्गन्धि पीते रहने के सिवा
> जिसने कभी कोई बड़ा काम नहीं किया अपनी देह
> अथवा अपनी चेतना में इस उम्र तक
> जटिल हुए किन्तु कोई भी प्रतिमा
> बनाने योग्य नहीं हुए उसके अनुभव
> नहीं निद्राएँ और नहीं पैशाची संभोग यातनाएं भी नहीं....'
>
> : मुक्तिप्रसंग :

अपनी इतनी कड़ी आलोचना वही कर सकता है, जो ईमानदारी के साथ आत्म-साक्षात्कार कर सकता है। इससे पहले की अपनी धारणाओं का व्यामोह चकनाचूर होते ही अहं का गुब्बारा फूट जाता है और वह सहज मनुष्य बन जाता है। 'जनशक्ति' में प्रकाशित उपरोक्त लेख में वह अपने से ही [illegible]वाद में लीन हो जाता है, और कहता है :

'म[illegible]वता, समानता, स्वाधीनता, जनवाद और समाजवादी देशों की मित्रता की [illegible]तें करना और इनके बारे में पाठक-वर्ग को सही जानकारी देना गलत है और अपनी प्रेमिका, अथवा अपने ईश्वर अथवा अपनी आत्मा की हिचकिचाहटों और ऊब के बारे में बातचीत करना, कविता लिखना, कहानी-उपन्यास लिखना, सही है—इस तरह की दलीलें सिर्फ वे लोग देते हैं, जिनके लिए देश की राजनीति और देश की अर्थनीति कोई महत्व नहीं रखती है। क्योंकि वे आत्म-[illegible]। उन्हें अपनी रोटी-नींद मिल गयी है। वे मौसम की, फैशन की, अपने जुक[illegible] और सिर-दर्द की बातें करना ज्यादा पसन्द करेंगे। मैं इन्हीं [illegible] कहता हूँ, जब कि रिलीफ़-चंदे के लिए ही ये लोग नाच-गानों का प्रोग्राम आयोजित करते हैं। ये ही वक्तव्य प्रकाशित करते हैं। और ये ही लोग गाँ[illegible] में [illegible] लोगों के बारे में आंचलिक कहानियाँ और रेस्तराओं और वेश्याओं के [illegible] में शहरी कहानियाँ लिखते हैं।'

और राजकम[illegible] स्वयं यही क[illegible]ता रहा था। उपरोक्त दोनों लेख लिखने से बहुत पहले २ जनवरी, १९६६ को अपने एक मित्र शंभुनाथ मिश्र को 'एकदम व्यक्तिगत' पत्र लिख[illegible], जिसके विषय में आग्रह था कि 'इसे [illegible] मित्र को भी न पढ़ाओगे, तो बेहतर [illegible]'—[illegible]कमल ने लिखा था : 'इस बीमारी में शारीरिक, मानसिक और आर्थिक—तीनों प्रकार के भौतिक तापों की चरम सीमा का अनुभव हुआ है। बीमारी में म[illegible] रहा हूँ। लेकिन अब अपने शरीर से तटस्थ हो चुका हूँ, जैसे (सुनता हूँ) साधक [illegible] लोग तटस्थ हो जाते हैं।....स्वस्थ हो जाने के बाद भी, यह तटस्थता जीवन में काम देगी, और मेरे चरित्र और व्यक्तित्व की बुराइयों को दूर करने में सहायक होगी। ....छोटी-छोटी चीजों के लिए मेरे मन में भयानक कमजोरियाँ हैं।....शायद औरत, पैसा, ऐश-आराम, यश—सारी बातों के लिए मैं अपने आपको और अपने आन्तरिक समाज को ठगता रहा हूँ। सच कभी नहीं, मैंने सिर्फ झूठ की जिन्दगी बसर की है....।'

झूठ की जिन्दगी एक राजकमल ने नहीं, स्वतन्त्रता के बाद भारतीय युवकों के एक बहुत बड़े हिस्से ने बसर की है। भारतीय समाज के कर्णधार, सत्ता और व्यक्ति-स्वार्थ के टुच्चे झगड़ों में शक्ति लगा रहे थे। किसी प्रेरणादायक जीवन-मूल्य के लिए कोई ऐसा व्यापक संघर्ष न था, युवक जिसका अंग बनकर अपनी विद्रोही आत्मा को सार्थकता देते। समाजवादी मान-मूल्यों का आंदोलन बहुत छोटा तो था ही—विभिन्न समाजवादी पार्टियों ने आपस में लड़कर उसको कुंठित कर रखा था ; उसमें इतनी शक्ति न थी कि वह युवकों को बौद्धिक और भावना के स्तर पर आंदोलित कर सकता।

और इस स्थिति में निहित स्वार्थों के प्रतिनिधि, विचारक, साहित्यि[illegible] क्षेत्र में ऐसे विचार प्रतिपादित कर रहे थे, जो व्यक्तिवादी विचारों को [illegible] करते थे और क्रांतिकारी आंदोलन से अलग कर बुद्धिजीवी को अकेला कर देते थे। जिस दशक में राजकमल ने साहित्यिक आँखें खोलीं, उसमें राजनीति से साहित्यकार को अलग रखने के पक्ष में जबर्दस्त दार्शनिक और भावुकता-प्रधान दलीलें दी जाती थीं। ऐसी स्थिति में युवक एक 'आत्म-सम्मोहन की तल्लीनता' (राजकमल के ही शब्द) के ही शिकार हो सकते थे।

आधुनिकता की तमाम बहसों के बावजूद हमारी पीढ़ी अनेक [illegible] और अर्द्ध-पूँजीवादी मान-मूल्यों का शिकार रही है। उदाहरण [illegible] आज अनेक प्रेमिकाओं के अस्तित्व की डींग हाँकना और मानसिक मैथुन करना। तवायफ़ों की अपने प्रति सहानुभूति प्रकट करना। शरा[illegible] क्षमता सिद्ध करने का प्रयत्न करना। अपनी वैचारिक और [illegible]थिक दरिद्रता को वाममार्गी

सन्तों जैसे 'पोज़' से गौरवान्वित करना (... इसे पश्चिम के 'बीटनिक' या बीटल्स ... 'सम्मानजनक' शब्दों से मंडित करना)। ... अपनी दयनीयता को शत ... का बाना पहनाना और लोगों की करुणा ... लाभ उठाना। विद्रोह के नाम पर पिता या पत्नी, जैसे असहाय व्यक्तियों या सहनशील दोस्तों का अपमान करना। आदि।

एक झूठ की जिन्दगी और ... अपने को असाधारण और अद्वितीय सिद्ध करने का यह प्रयत्न कमोबेश हम सभी में था, और है। राजकमल इसको इन्तहा तक ले गया। इन सबके सहारे वह अपने को एक मिथक बनाने का प्रयत्न करता रहा। और यही उसकी बीमारी थी।

किन्तु वह एक ईमानदार आदमी था। एक विवशता थी कि उसको यह मिथक बनाये बिना सम्मान पाने की आशा न थी। बीमारी का बहाना बनाये बिना उसको कोई आर्थिक सहायता, यहाँ तक कि उसके लेखन का पारिश्रमिक तक, समय पर देने के लिए तैयार न था।

मुझे कभी नहीं भूलेगा कि कुछ वर्ष पहले जब वह दिल्ली आया—एक प्रकाशक से पैसे वसूल करने के लिए—तब मैंने उससे पूछा कि : 'क्या यह सच है कि तुम्हारी अनेक प्रेमिकाएँ हैं, जो तुम्हें पैसा भेजती रहती हैं।' तब वह हंस पड़ा था। बोला : 'राजीव भाई, आप भी इस सब पर यकीन करते हैं? ये सब इन लौंडों पर रौब गालिब करने की बातें हैं। मैं अपनी पत्नी को और बच्चों को बेहद प्यार करता हूँ!' और मैं समझ रहा था कि वह इस बार अवश्य सच कह रहा है।

ऐसी तरह के कई किस्से उसने अपने विषय में फैला रखे थे। और इस प्रकार के मिथक व्यक्तित्व के मिथ्यापन की यातना वह अंदर ही अंदर भोगता हुआ जर्जर हो रहा था। मैं कहना चाहता हूँ कि राजकमल की मृत्यु के जिम्मेदार वे ... जीवन-मूल्य और मान्यताएँ हैं, जिनके विरुद्ध हमने यथेष्ट संघर्ष नहीं किया। राजकमल की तरह हम में से अधिकांश लोग इन्हीं जीवन-मूल्यों को एक साहित्यिक के रूप में और एक व्यक्ति के रूप में अपने को जीवित रखने को साधन मानते रहे हैं।' हमने यह नहीं देखा कि इन मूल्यों को प्रसारित करने के ... वे वर्ग और उनके एजेन्ट करते हैं, जिन्हे इस समाज की यथा-स्थिति बनाये रखने में ही दिलचस्पी है; और वे नहीं चाहते कि हम असलियत ... समाज-द्रोही और व्यक्ति-घाती साजिशों का पर्दाफ़ाश करके ... प्रोग्राम आयोजित ... राजकमल ने अन्ततः इस सत्य को देखा। उसने कवि श्री राम शुक्ल ... में लिखा :

'स्त्री-शरीर बहुत स्वास्थ्यप्रद वस्तु है, लेकिन, कविता के लिए नहीं, संभोग के लिए। कविता में स्त्री शरीर ... राजनीतिक ... विषयों की तरह मात्र एक विषय है—कविता का ... या प्रति... कोई संग... ऐसा ही मानता हूँ, ... तुम, जो मानते हो, उसे मानो ... उसे ... की तुम्हें पूरी आज़ादी ... है। अब, कविता के लिए हमें ... राज... , आर्थिक और सामाजिक, परतंत्रताएँ अधिक आवश्यक विषय हैं। स्त्री शरीर को राजनीतिज्ञों, सेठों-बनियों, और इनके प्रचारकों ने अपना हथियार ... या है—हम लोगों को अपना क्रीतदास बनाये रखने के लिए। बेहतर हो, हम पत्रिकाओं के कवर पर छपी हुई, कैलेण्डरों पर छपी हुई, अधनंगी स्त्रियों और अपने पब्लिक सक्टर और प्राइवेट सैक्टर के मालिकों के लिए हमारा ईमान, हमारा ज़ेहन, हमारी ताकत खरीद कर हमें नपुंसक बनाने वाली अधनंगी स्त्रियों को, हम अब अपने साहित्य में उसी प्रकार प्रश्रय नहीं दें, न आत्मरति के लिए, न पर-पीड़ा के लिए!! मैं श्लील-अश्लील नहीं मानता हूँ। लेकिन हम कवि हैं, हमें न तो नपुंसक और न स्त्री अंगों का वकील बनना चाहिए।'

'सही यात्रा' तक पहुंचने के पहले की राजकमल की यात्रा भी कम महत्वपूर्ण नहीं है, बल्कि वह कुत्सित सामग्री और अर्द्ध-पूंजीवादी मूल्यों में बंधे हुए एक युवक द्वारा अपने को उनसे मुक्त करने के प्रयत्नों की गाथा है। राजकमल अर्द्ध-सामन्ती कुल में जन्मा और ऐसी परिस्थितियों से गुज़रा, जिनसे उसकी विद्रोह-भावना दिन प्रति-दिन दृढ़ होती गयी। उसे अगर सही ढंग से पढ़ने-लिखने और वैज्ञानिक विचारों को आत्मसात् करने का अवसर शुरू में ही मिला होता, तो शायद वह अपने प्रारंभिक लेखन-काल में ही 'सही यात्रा' के बिंदु पर पहुँच गया होता। कुछ गलत मूल्यों के विरुद्ध संघर्ष करते हुए, फिर किन्ही गलत मूल्यों के चंगुल में फंसकर और फिर उनके विरुद्ध भी संघर्ष छेड़ते हुए, वह एक सतत संघर्ष में जूझता रहा, जिसने उसका शरीर तोड़ दिया। किंतु सही राह खोजने की उसकी प्यास अदम्य थी। वह किसी एक बिंदु-विशेष पर रुक नहीं गया।

ऐसा सिर्फ़ वही कर सकता है, जो अपने प्रति ईमानदार हो। तमाम विभ्रमों को स्वयं पैदा कर उसने उन्ही को सही ठहराने की दार्शनिक कोशिश की। अपने को 'राहों का अन्वेषी' कुछ और लोगों ने भी कहा है, किन्तु ... पहले ही 'पहुँचे' हुए व्यक्ति थे और जहाँ तीस वर्ष पहले थे, ... खड़े हैं। राजकमल सचमुच राहों का अन्वेषी था और ... को एक सतत विकासमान गतिशीलता और नित नूतन प्राप्त होती रही है। ... उदाहरण के लिए 'प्रारंभ' नामक संग्रह में ... कविताएँ अपने रचना शिल्प में 'नयी कविता' के अत्यन्त निकट ... 'कंकावती' में उसने ...

इस शिल्प को तोड़ा ... नहीं; ... से मंडित ... पद्य का गौरव ... में सफलता प्राप्त ... और 'मुक्ति प्रसंग' ... लोगों ... पद्य के सभी परम्परागत लक्षणों को छोड़कर एक गद्यात्मक, ... 'निजी' रूप अपनाया, जिसमें समसामयिक काव्य-शिल्पों ... ऐसा ... स्थापित हो सका है, जो अपने नवीन रूप में एकदम नया और अकेला है।

भाव-बोध के क्षेत्र में उसकी उपलब्धियाँ और अधिक महत्वपूर्ण हैं। 'प्रारंभ' की कविताओं में परिवेश के प्रति एक वितृष्णा का और विसंगतियों में एक छटपटाहट का भाव प्रधान है। 'कंकावती' में वह एक कामतंत्र को अपनाकर परिवेश से मुक्त और अलग रहने का प्रयत्न करता है। किन्तु 'मुक्ति प्रसंग, में वितृष्णा विद्रोह बन जाती है, विसंगतियाँ प्रहार करने योग्य तत्व और परिवेश से इतना गहरा इन्वाल्वमेंट (एक प्रतिबद्धता) कि समसामयिक घटना-चक्र—चुनाव-चक्र, शोषण-व्यवस्था, युद्ध, वियतनाम, बीटनिक आंदोलन, आदि—नया प्रतीकार्थक रूप धारण कर लेता है। 'मुक्ति-प्रसंग' वस्तुतः कवि का अपने से डायलाग है—एक ऐसा डायलाग, जिसमें एक निर्णय तक पहुँचने के पहले कवि समस्त सत्य-असत्य स्थितियों को टटोलता है, एक नई मूर्त्ति के रूपाकार की तलाश में अनेक मूल्य-मूर्त्तियों को खण्डित करता है और तमाम अंतर्विरोधी प्रवृत्तियों से जूझता है। वह न नास्तिक है और न आस्तिक; न पूर्णतया तांत्रिक है और न व्यावहारिक; न सर्वांगतः विद्रोही है और न स्थितिप्रज्ञ—इन सबके बीच वह एक संक्रमण की स्थिति में है, हमारी पीढ़ी के अधिकांश युवकों की तरह। पूरी कविता उसके गाँव की देवी 'उग्रतारा' के एक मिथक के इर्द-गिर्द घूमती है। उग्रतारा एक प्राचीन जड़ मूर्त्ति है, जिसको लोग पूजते हैं और आज तक बहते हुए समय जैसी नदी भी : 'नीली नदी थी मेरे गाँव की उन्मादिनी उग्रतारा'! उग्रतारा में एक उग्रता का बोध है और कहीं नीलेपन में स्थिर हो सकने वाले तारे (आस्था) की निहित परिकल्पना भी।

'मुक्ति प्रसंग' एक तनाव की स्थिति में लिखी गयी है; कोई एक दार्शनिक को ... उसमें नहीं मिलता। यह उसकी कमजोरी है, किन्तु उसकी शक्ति भी करने के ... अर्थात वह तमाम वैचारिक और अनुभूतिगत स्तरों पर दिग्भ्रमित स्थिति ... छटपटाहट को स्वर देती है, जो प्रौढ़ता की ओर बढ़ने की ... अपाहिज ...

गानों का प्रोग्राम आयो ... है मेरे लिए कोई नाम
ये ही लोग गाँ... चिड़िया
रेस्तराओं और वेश्याओं ... कोई सिद्धान्त

कोई दरख्त कोई राजनीतिक दल
कोई जंगल कोई सांप कोई गाँव
कोई नदी कोई सड़क कोई संगीत
कोई नशा ... कोई घृणा
कोई घर कोई आँगन कोई ... व
वापस लौट जाऊं जहाँ एक बार फिर से
अपनी यात्रा शुरू करने के लिए'

इस अनिश्चय की स्थिति का उसकी इस लम्बी कविता पर ... भी स्पष्ट है। वह सही विरोध को गलत शब्दों में व्यक्त करता है। उदाहरण के लिए 'प्रसंग-आठ' का यह उद्धरण, जो एक प्रकार से 'मुक्तिप्रसंग' का निष्कर्ष या सार-तत्व प्रकट करता है :

'आदमी को तोड़ती नहीं हैं लोकतान्त्रिक पद्धतियाँ केवल पेट के बल
उसे झुका देती हैं धीरे-धीरे अपाहिज
धीरे-धीरे नपुंसक बना लेने के लिए उसे शिष्ट राजभक्त देश-प्रेमी
नागरिक बना लेती है
आदमी को इस लोकतन्त्री संसार से अलग हो जाना चाहिए
चले जाना चाहिए कस्साबों गांजा-खोर साधुओं
भिखमंगों अफीमची रंडियों की काली और अंधी दुनिया में मसानों में
अधजली लाशें नोच कर
खाते रहना श्रेयष्कर है जीवित पड़ोसियों को खा जाने से
हम लोगों को अब शामिल नहीं रहना है
इस धरती से आदमी को हमेशा के लिए खत्म कर देने की
साजिश में'

स्पष्ट ही 'लोकतन्त्री संसार' उसकी दृष्टि में 'तथाकथित लोकतन्त्री' ही है, वस्तुतः लोक-विरोधी है और यह विरोध-योग्य है, तो इस कारण कि वह मनुष्य को 'अपाहिज' और 'नपुंसक' बना देता है। लेकिन इस के विरोध में 'कस्साबों, गांजाखोर साधुओं···की अंधी दुनिया में' चले जाना, क्या अपाहिजों और नपुंसकों की दुनिया में चले जाना नहीं है और क्या उन शक्तियों की 'साजिश' को सफल होने की छूट देना नहीं है, जो ऐसे 'लोकतन्त्री' ही से। यथा-स्थिति के संरक्षण के लिए युद्धों का सहारा ले रहे हैं? ... किस प्रकार 'श्रेयष्कर' है? यह ठीक है कि वियतनाम युद्ध में ... बाद के एक सिपाही के रूप में जाने से यह 'श्रेयष्कर' ... यथार्थवादी भी 'गांजाखोर साधुओं' की दुनिया में चला जाये, ... अन्तर्गत यह निजी यथार्थवादी

नपुंसक हल ही [illegible] जायगा। कुछ वर्ष पहले तक अमरीकी युवक इसी को [illegible] मानता था, लेकिन अब नहीं/ अब वह संगठित विरोध कर रहा है। [illegible] ने अपने अंतिम लेखों में 'जनता के पास वापस जाने' और 'सही यात्रा' प्रारंभ करने की जो [illegible] की [illegible], शायद उसका अर्थ यही है।

वस्तुतः 'मुक्तिप्रसंग' इन्हीं कमजोरियों के कारण महान् कविता बनते-बनते रह गयी है। गलत संदर्भों में सही शब्द और गलत शब्द सही संदर्भों में प्रयोग करने के कारण उनकी तीक्ष्णता कुंठित हो गयी है।

इतने पर भी 'मुक्तिप्रसंग' एक महत्वपूर्ण कविता है। एक दस्तावेज़ है, हमारे समय का। आज की पीढ़ी के मुक्ति-कामी अभियान में वह एक मील-स्तम्भ है, जिसकी ओर हमें बार-बार मुड़कर देखना होगा। युग-बोध से अधिक वह अपने शिल्प की उपलब्धि में महत्वपूर्ण है। इसीलिए यह कविता सातवें दशक की महत्वपूर्ण रचनाओं में स्थान प्राप्त करती है, जिसकी चर्चा के बिना साहित्य का कोई इतिहासपूर्ण नहीं हो सकता।

राजकमल एक मिथक के रूप में मर गया है और जो उसकी यथार्थ उपलब्धि है, वह सुरक्षित है। ● ●

का [illegible]
करने [illegible]
स्थिति ब[illegible]
[illegible]
गानों का प्रोग्राम आयोजि[illegible]
ये ही लोग गाँ[illegible]
रेस्तराओं और वेश्याओं के [illegible]

राजकमल का चेतना-लोक

हरदयाल

•

हिन्दी के साहित्यकार की, कम-से-कम उसकी, जो 'केवल साहित्यकार' है, एक नियति है कि वह विपन्न होता है। उसकी विपन्नता उससे अनेक कार्य—असाहित्यिक कार्य करवाती है। कभी वह अध्यापकी करता है, कभी सम्पादक बनता है, कभी वह क्लर्क होता है और कभी-कभी सरकारी अफ़सर भी। इस प्रकार के व्यवसाय अपनाना उसके लिए अनिवार्य हो जाते हैं। उसे इन व्यवसायों के कारण अपनी रचनात्मक चेतना को इस प्रकार नियन्त्रित करना पड़ता है, कि उसकी 'शुद्धता' समाप्त हो जाती है। वह जो अनुभव करता है और उस अनुभव को जिस तरह सम्प्रेषित करना चाहता है, नहीं कर पाता। वह जिस व्यवस्था का विरोध करता है, वही व्यवस्था उसके अस्तित्व की रक्षा की जिम्मेदार होती है। अगर वह उस व्यवस्था का विरोध करता है तो उसका अस्तित्व खतरे में पड़ता है और अगर वह विरोध नहीं करता है, तो उसकी साहित्यिकता खतरे में पड़ती है। फिर वह क्या करे? कुएँ से निकल खाई में गिरना है, आकाश से गिर कर खजूर पर लटकना है! अपना 'शुद्धता' बनाए रखने के लिए साहित्यकार के पास कोई ऐसा विकल्प नहीं है, जो उपर्युक्त संकट से मुक्त कर सके। इस संदर्भ में लेखक के मसि-जीवी होने अर्थात् केवल अपनी रचनाओं के द्वारा जीवित रहने की बात की जा सकती है, की जाती है। किन्तु मुझे लगता है कि हिन्दी में [illegible] अवस्था नहीं आई है। सभी वृन्दावनलाल वर्मा, जैनेन्द्र, दि[illegible] की भाँति अपने प्रकाशन नहीं चला सकते। हिन्दी के कितने [illegible] स्वत्व के सम्बन्ध में ईमानदार हैं? विद्रोही साहित्यक[illegible] यथार्थवादी भी भी असंभव चीज है। इसीलिए वह जहाँ अनेक [illegible] अन्तर्गत यह निजी यथार्थवादी वहीं उनसे अधिक मात्रा में उसे मात्र पत्रका[illegible]

के हिन्दी साहित्यकार की विरोधाभासी ऐसी स्थिति है, युवा पीढ़ी इसी में [illegible] रही है। [illegible] परिस्थितियाँ उसकी चेतना का निर्माण कर रही [illegible] वह चेतना सरल, साधारण, [illegible] नहीं [illegible] वह उच्छृंखल, अनियन्त्रित व्याकुल, विस्फोटक, दाहक, [illegible] है। राजकमल इसी पीढ़ी के साहित्यकार थे। उनकी चेतना का निर्माण इन्हीं परिस्थितियों में ही हुआ था और उनकी चेतना उक्त [illegible]ताओं से युक्त थी।

हिन्दी के एक गीतकार कवि ने लिखा है : 'जीने के लिए कुछ ग़लतफ़हमियाँ जरूरी हैं।' मैं इसे स्वीकार नहीं करता। ग़लतफ़हमियों को लेकर सुख से जिया जा सकता है, या यों कहिए, दिन काटे जा सकते हैं। दिन काटना जीना नहीं है। जीता वह है, जो अपने यथार्थ से आँखें चार कर सकता है। जो उसे पसंद नहीं है, उसे दुत्कार सकता है। जो मुझे सच नहीं लगता, मैं उसे अस्वीकार करता हूँ। तुम जिस वास्तविकता को भय या निहित स्वार्थ के कारण सुन्दर आवरणों में ढक कर रखना चाहते हो, मैं उसे उजागर करने की साहसिकता रखता हूँ। जीना इसे कहते हैं। राजकमल जितने दिन जिया, इसी अस्वीकार और इसी साहसिकता को लेकर जिया। उसने थोड़े दिन जीकर जीवन की सार्थकता सिद्ध की और हम सबके अस्तित्व पर एक व्यंग्यात्मक प्रश्न-चिह्न बनकर चला गया।

ऐसा व्यक्ति सामान्यतया पसन्द नहीं किया जाता। समाज को अपनी मर्यादाएँ नष्ट होती लगती हैं। निहित स्वार्थों को अपने स्वप्न चकनाचूर होते प्रतीत होते हैं। वे मिलकर अपनी सम्पूर्ण शक्ति से ऐसे व्यक्ति को समाप्त कर डालना चाहते हैं। 'राजकमल अश्लील साहित्य रचता था'। 'राजकमल का [illegible]न रुग्ण था। राजकमल गन्दी चेतना का साहित्यिक था। राजकमल ने [illegible]सबर्ग तथा अन्य बीट साहित्यकारों की नक़ल की'। इस तरह के आरोप [illegible]स्थ ढंग से लगाये गये हों, यह बात नहीं है। उनके पीछे, चाहे असजग रूप से [illegible] सही, समाज के एक वर्ग की ओर से सोद्देश्य आक्रमण की भावना थी। जो लक्ष्य था, वह सिद्ध हो गया। राजकमल हमारे बीच नहीं है।

[illegible]जीवित रहने के लिए राजकमल को बहुत संघर्ष करना पड़ा। वह लेखन पर [illegible] करने [illegible]। इसलिए कविताएँ, कहानियाँ और उपन्यासों की रचना के स्थिति [illegible] से अनुवाद करना पड़ा। पत्रकारिता के आग्रह से उसे तमाम हलकी [illegible] प्रपत्र [illegible]। वह वस्तुतः कवि एवं कथाकार ही था। इन्हीं में उसकी [illegible] गानों का प्रोग्राम आयोजि[illegible]लता है। अन्यत्र तो केवल कलम-घिसाई की है। ये ही लोग [illegible] वस्तु के तौर जो क्षेत्र चुना, वह वर्जित क्षेत्र था। रेस्तराओं और वेश्याओं के [illegible] में वर्तमान समाज एवं राजनीति आदि के

प्रश्नों की चर्चा तो अवश्य है, [illegible] मुखता है, असामान्य और असाधारण सेक्स सम्बन्धों का [illegible]

(क) एक [illegible] सीने [illegible] झुककर कहता है
[illegible] डुल्स-[illegible]व .... राइल्स-ट्यूब
नाक में सैंतीस इंच [illegible] रबर की नली
उसके स्तनों पर सफ़ेद गर्व [illegible] ....

: अकवि[illegible]—३; पृ० ४२ :

(ख) मासिक धर्म का रुक जाना ही कारोबारी औरतों के लिए
सबसे बड़ा अपराध है।
ताँबे के तारों के जाल बिछाये गये हैं,
गर्म कुंडों के ऊपर,
मेहराबों पर,
दरवाज़ों पर।

: अकविता—१, पृ० १२ :

(ग) 'अनार के गले में हरी-पीली धारियों का ऊनी मफ़लर बँधा था स्वेटर शिकस्त होने की वजह से उसके स्तन समतल दीखते थे।' 'अनार ने सिर्फ़ एक स्वेटर पहन रखा है, स्वेटर के नीचे ब्लाउज़ नहीं है।'

तुमने क्यों कहा था असंयम शरीर-व्यवस्था के सिवा नहीं रहने दिए।

कवच ....एक ही मत्स्यगंधा धारण करेगी
समस्त ऋषि-लिंग—यही निर्णय
अपराधियों का।

: लहर, मार्च '६७ :

(घ) 'धार्मिक आस्था और 'बदचलन' स्त्रियों की संगति, [illegible]आनन्द पाने के ये दोनों कारण और प्रतिफल मैंने अपनाए; [illegible] लगभग दस साल से तीस साल की उम्र के अरसे में एक [illegible] स्टेशन, दो महानगरों, पाँच तीर्थ-स्थानों, [illegible] से। तेरह सन्यासी और तान्त्रिकों, आठ वेश्[illegible] लेखिकाओं और अन्त में, एक वैष्णव [illegible] यात्रा मैंने की। यात्रा, अर्थात् [illegible] यथार्थवादी भी गलियों और उजाड़ मैदानों [illegible] अन्तर्गत यह निजी यथार्थवादी

ये राजकमल की कविता, डायरी और [illegible] के कुछ उद्धरण हैं। [illegible] उद्धरणों की आवश्यकता नहीं [illegible] पढ़ जाइये और 'भूगोल का प्रारम्भिक ज्ञान', 'पत्थर के नीचे दबे हुए हाथ' जैसी कहानियों, 'मछली [illegible] मरी हुई' जैसे उपन्यासों को पढ़ जाइये। राजकमल के चेतना-लोक की एक झलक आपको मिल जायेगी। इस चेतना-लोक के अभिन्न [illegible] हैं: नंगी बदचलन स्त्रियाँ, पासी और मुसहड़ों की स्त्रियाँ; [illegible] काली, सफेद-गौर स्वस्थ एवं रुग्ण, गँधाती देहें, पुष्ट खुली जाँघें 'काली घोड़ी लाल लगाम' झूलते शिथिल-कठोर स्तन; किशोरों [illegible] अपनी पुष्ट बाँहों में जकड़ती प्रौढ़ महिलाएँ; ताडी, शराब, शव, होमो-सेक्सुअल, भोग-मैथुन, बदबू भरे कमरे, श्मशान, बीमारियाँ, अस्पताल, तान्त्रिक, विद्रोही, नशा, संख्याएँ, असामान्य स्थितियाँ और असाधारण प्रतिक्रियाएँ, आक्रोश, घुटन, कुंठा, छटपटाहट, स्थिरता और शान्ति की अस्थिर और अशान्त तलाश, देश की एवं विश्व की सांस्कृतिक, राजनैतिक घटनाएँ-संदर्भ, सामाजिक विरोधाभास।

राजकमल की मृत्यु पर टिप्पणी करते हुए लिखा गया :

(क) वह लम्बे अरसे से बीमार थे। कुछ लोगों का कहना है कि वह उसी दिन बीमार हो गये थे, जिस दिन गिंसबर्ग भारत आया। कि बीटनिकी आबो-हवा उनके माफ़िक नहीं पड़ी। कि उन्हें औरतों ने नहीं, औरतों के खयाल ने बीमार बनाया।'

(ख) 'राजकमल चौधरी का साहित्य कुल मिलाकर रुग्ण साहित्य है और उसकी रोग-ग्रस्तता ही उसका मुख्य आकर्षण है। उनके उपन्यासों और उनकी कहानी-कविताओं में न केवल पात्र रुग्ण हैं, बल्कि हर जगह रुग्ण लेखक के दर्शन होते हैं।'

[illegible] से [illegible] ता हूँ कि राजकमल का चेतना-लोक साधारण नहीं है। इसलिए साधा- [illegible] जो [illegible] से जब उसे देखा जाता है, तब वह रुग्ण प्रतीत होता है। सामान्यतया को [illegible] नहीं कहा जा सकता। यह भी तथ्य है कि वे शारीरिक दृष्टि से बीमार करने [illegible] री में ही उनकी मृत्यु हुई। सेक्स का जैसा और जितना चित्रण स्थिति [illegible] रचनाओं में किया है, वह सामान्य व्यक्ति की दृष्टि से विकृत [illegible] दो प्रश्न हैं: 'क्या राजकमल ने जो कुछ चित्रित किया गानों का प्रोग्राम आयोजि[illegible] हमारे जीवन के किसी अंश का यथार्थ नहीं है?' ये ही लोग गाँ[illegible] को रुग्णता की इस अवस्था तक ले जाने का रेस्तराओं और वेश्याओं के [illegible] पर विचार करने से पूर्व मैं यह स्पष्ट

कर देना चाहूँगा कि इस सम्बन्ध [illegible] होता है। ले[illegible] ऐसी चीज की खोज में भटक र[illegible] थे, जो [illegible] को उनके सामने स्पष्ट कर दे। उन्होंने अपनी [illegible] प्रसंग' के बाद, जैसे मैं [illegible] गया हूँ। वह लम्बी कविता [illegible] अस्वस्थ व्यक्तित्व का प्रमाण है, [illegible] दस्तावेज है, उन लोगों के लिए, जो मुझसे सिर्फ़ इसलिए घृणा करते हैं कि [illegible] और प्रेम, दोनों को अपनी असंपूर्णता और असमर्थताओं की प्रतिक्रिया मान [illegible]। क्योंकि मैं प्रतिक्रिया-वादी नहीं हूँ। मैं पत्थर की वह दीवार नहीं हूँ, जिसके पास प्रतिध्वनियों के सिवा अपनी कोई आवाज़ नहीं होती है। शब्द नहीं सह[illegible] ध्वनियाँ मुझे प्रिय हैं, इन्हें मैं जन्म देता हूँ,—जब कि, मैं उस मूल-ध्वनि, मूल-नाद की तलाश में हूँ। मैं प्रकृति की सहस्रधारा ध्वनियों को एक-एक तार, एक-एक रेशे में अलग-अलग करके तय करना चाहता हूँ, कि वह गोमुख क्या है? मेरे प्राण-कुण्ड के अन्दर है, या मेरे शरीर के बाहर कहीं किसी काली गुफा में ध्यानवस्थित बुद्ध की तरह समाधि-लीन है? मैं तय करना चाहता हूँ—शब्दों का मूल-तन्त्र क्या है? किस श्री-चक्र पर शब्द की पार्थिव प्रतिमा स्थापित हुई है?' : लहर, मई '६७ :

राजकमल ने जो कुछ अपनी रचनाओं में प्रकट किया है, वह उसकी प्रामाणिक अनुभूति है। जब समाज में ये चीजें पूरी तरह विद्यमान हैं; युवा-मन उन्हें देखता-सुनता है, वे उसकी चेतना का अभिन्न अंग बन जाती हैं—फिर वह उन्हें अभिव्यक्त क्यों न करे? आक्रोश लेखक पर करने के बजाय अगर उन शक्तियों पर किया जाये, जो इसके लिए उत्तरदायी हैं, तो ज्यादा स्वस्थ दृष्टिकोण होगा। किन्तु होता इसका उलटा है। कभी 'उग्र' ने साहस कर [illegible] चीज़ों का उद्‌घाटन किया था, तो उनके विरुद्ध एक लम्बा-चौड़ा आन्दोलन [illegible] खड़ा कर दिया गया था। उनके साहित्य को 'घासलेटी' विशेषण से सजा [illegible] गया था। राजकमल के साथ भी लोग यही करने पर आमादा रहे हैं। राज-कमल को औरतों, औरतों के खयाल या बीटनिकों ने नहीं मारा। उसको हमारी समाज-व्यवस्था ने मारा। सचमुच कुछ लोग बहुत भाग्यशाली होते हैं, जिन्हें जीवन संघर्ष कभी झेलना ही नहीं पड़ता; जिनके सामने जीवन [illegible] बन कर नहीं आता। जो बड़े बाप के बेटे होते हैं, प्रभावी सं[illegible] से। होते हैं। वे ऊंचाइयों पर 'लिफ्ट' से पहुँचते हैं। वे टूटे [illegible] सीढ़ियों के सहारे चढने वालों की मनस्थिति, सम[illegible] दर्द को क्या समझेंगे? वे कैसे जान पायेंगे कि [illegible] यथार्थवादी भी से ग्रस्त आदमी कैसे अकाल वृद्ध हो जाता [illegible] न्तर्गत यह निजी यथार्थवादी

...संघर्ष से पराजय आदि को लेकर
...की स्थिति और उससे उत्पन्न मानसिक और
... को अच्छी तरह ... सकता हूँ। ...कमल जिस स्थिति में
...ए हुए, वह मेरी दृष्टि में, हमारी पूंजी... ...अर्थ-व्यवस्था और दोनों पर
आधारित समाज-व्यवस्था की स्वाभाविक परिणति थी। जब तक ये व्यवस्थाएँ
समाप्त नहीं होतीं, तब तक न ... कितने युवकों को राजकमल की तरह रुग्ण
हो जाना पड़ेगा और प्रतिक्रियावादियों की निन्दा का विषय बनना पड़ेगा।
मैं इस प्रसंग में राजकमल की 'चम्पा-रोग' : लहर, दिसम्बर-जनवरी '६७ :
कविता का उल्लेख करना चाहूँगा। इस कविता में भी राजकमल ने एक
संक्रामक-रोग की चर्चा की है। यह रोग पूरे राष्ट्र को हो गया है। आज की
राजनीति विकट हो गई है। वह दीन-हीनों को अभय प्रदान करने के बजाय
संत्रस्त करती है। एक दुष्चक्र विभिन्न रूप धारण कर बड़ी तीव्रता के साथ
घूम रहा है। राष्ट्र के अधिकांश लोगों की नियति इस चक्र से कुचल कर मर
जाना है और मुट्ठी भर लोग तमाशा देख रहे हैं।

फूल नहीं गुलदस्ते नहीं अखबार नहीं पारिवारिक जन्म-कुण्डलियाँ
नहीं कई अमूर्त्त वस्तुएँ और मूर्तिमान छिन्नमस्ता
मरे हुए सैनिकों का सिर काट कर मुंडमाल पहनाने के लिए वह
मूर्ति गढ़ते हैं रक्तबीज रक्तजीवी
उसका नाम कहते हैं एक दिन अवमूल्यन दूसरे दिन इन्दिरा गांधी
तीसरे दिन पी. एल. चार आठ शून्य
चौथे दिन कुछ नहीं कहेंगे इसके सिवा कि यह संक्रामक रोग
जिसे कहते थे समय दरअसल जनतन्त्र है
संसदीय लोकतान्त्रिक समाज-शैलिक मानव-धर्मी धर्म-सम्मत धर्म-
निरपेक्ष यह संक्रामक रोग
प्रचलित स्वयंप्रभा-समुज्ज्वला स्वतन्त्रता यह संक्रामक रोग सारी
रोशनी और सारा अनाज
अदृश्य ताबूतों अदृश्य गोदामों में बन्द करता है अपना अस्तित्व
सिद्ध करने के लिए..................

...री अपने लेखकीय जीवन की परिपक्वता को नहीं पहुँच
...कि उन्हें नहीं पहुँचने दिया गया। अतः उनका चेतना-लोक
...ऐसा मुझे नहीं लगता। ● ●

...ता, वैज्ञानिक ... ही होता है। लेकिन ... यौन-संवेद
...अध्ययन आँफ ... ...के नैवर्ग के ... होता ... जीव
... और
...अधिक
... का

राजकमल की उग्रतारा

चन्द्रमौलि उपाध्याय

●

विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के इस युग की चरम परिणति चाहे जितने दुःखों और त्रासों में हो, किन्तु वैज्ञानिकता की स्वीकृति और धर्म-दर्शन, परम्परा आदि की अस्वीकृति अपनी जगह पर है। यों, अब भी आध्यात्मिक चिन्तना, साधना और चमत्कार तक होते हैं और कभी-कभी समझदार आदमी को ऐसा लगता भी है कि जीविका और जिजीविषा से सन्दर्भित विज्ञान की पश्चात्तापपूर्ण स्वीकृति वस्तुतः नयी दुनिया को कितना दरिद्र बना चुकी है कि वह बिलकुल स्थूल पर आ गयी है और आदमी की दलियों हज़ार साल की उपलब्धियों को एक साथ नकार देती है। वह चाहता है कि सूक्ष्म भी हमारी लेबोरेटरी में आये और प्रमाण दे कि वह होता है। ... आईन्स्टीन की बात नहीं, बल्कि सामान्य बुद्धिजीवी की स्थिति है।

राजकमल ने एक बार कविता पर बात करते हुए मुझसे कहा था कि कवि... की भाषा और दृष्टिकोण में विज्ञान की सही-गलत सारी उपलब्धियों की स्वीकृति की भंगिमा होनी चाहिए अर्थात् यह कि ये नयी चीजें हैं और आज हम इनके बीच हैं। अनुभववादी और व्यक्तिवादी स्तर की इस बात को हम दोनों ने वहीं छोड़ दिया था, विवाद नहीं किया। और इसके एक डेढ़ महीने ... ही राजकमल को बीमार होकर अस्पताल जाना पड़ा। वहाँ मैंने ... आज और यातना की स्थितियों में 'माँ-माँ' चीखते सुना।

गिंसबर्ग भारत में आया था और उसने वाममार्गी ... यथार्थवादी भी स्वीकृति देकर अपने बारे में कविताएँ लिखवायीं ... व्यक्तिगत यह निजी यथार्थवादी यह लघु-प्राणता के उदाहरण के अतिरिक्त ...

पनी जगह … …ों से पराजय … । लेकिन जिस
छि… …ने का और उससे … मिलता है, उससे
… का कोई सम्बन्ध नहीं है … हूँ । … लिए राजकमल ने किसी
'अस्वीकृत असमर्थ गोद लिये हुए … ली, न उनकी फूल-फुलवारी
से और न तो उनकी उग्रतारा … आदिवासी कन्या से । 'मुक्तिप्रसंग' में
यदि मंजू हालदार है, … 'असमर्थ बड़ा भाई' भी क्यों नहीं हुआ ?
—और, यदि राजकमल तमाम विदेशी नाम जानता था, थोड़ा बहुत पढ़ा भी
था, तो उनका …नसिक संस्कार कैसे छोड़ता ? कौन छोड़ता है ? विशुद्ध
भारतीय कहलाने की हिमाकत जिन्दा लोगों में शायद बहुत कम लोगों के पास
हो । अतः प्रश्न यह न होकर यह है कि आधुनिक पाश्चात्य पौरस्त्य साहित्यिक
साहित्येतर सन्दर्भों में राजकमल ने स्वयं को और भारतीय देवी उग्रतारा को
किस कोण से अनुप्रवेश दिया है और समूची 'मुक्तिप्रसंग' रचना में उसका
क्या महत्व है ?

इसके पूर्व कि 'मुक्तिप्रसंग' के अध्यात्म के बारे में कुछ कहूँ, राजकमल की तान्त्रिक दीक्षा और साधना के बारे में कहना आवश्यक होगा । उसकी अध्यात्म और साधना की यात्रा बहुत संक्षिप्त थी, एक तीर्थ करने की तरह । किन्तु जब वह हुई, तो मृत्यु-पर्यन्त राजकमल उस मनस्थिति के नैरन्तर्य को तोड़ नहीं पाया, यद्यपि उसने उपद्रव किये । किन्तु दीक्षा, साधना और उपद्रव 'मुक्तिप्रसंग' की रचना के बाद हुए और उनको साहित्य में लाने का समय उसे नहीं मिला । 'मुक्तिप्रसंग' तब की रचना है, जब राजकमल में जन्मजात और पारिवारिक संस्कार तथा उग्रतारा की याद जैसी बात बहुत तीखी आस्था की तरह उमड़ी थी । इस याद में एक तल्खी भी थी । लेकिन पहले यह कहना चाहूँगा कि साहित्य की अपनी सीमाएँ होती हैं और धर्म-दर्शन, …जनीति आदि किसी विशिष्ट कोण से ही उसमें प्रविष्ट होते हैं । जहाँ तक र…कमल का सम्बन्ध था, मैंने यह पाया कि राजकमल का साहित्यकार उसके सा…क और आस्थापरक व्यक्तित्व पर अन्त तक हावी रहा । साहित्य को …ाध… के समक्ष द्वितीय स्थान देने की प्राणता उसमें नहीं थी, बल्कि उसे …ार होकर ही अन्य कुछ होने का मोह हो सकता था । और इसीलिए …ते और उसने उसे पहले साहित्य में बैठा लिया, फिर साधना की …ात्पर्य यह कि कच्ची किन्तु संस्कारों से दृढ़ उग्रतारा सम्बन्धी …में उतरी । इसीलिए उसमें 'सूक्ष्म' सत्ता की विराटता, …ग उग्रतारा को समूची देवसत्ता से जोड़ने की यों लगता है, …ता, वैज्ञानिक … होता है । लेकिन … यौन-संवेद… आस्था है; वह पुश… …यन ऑफ कम-जन्मान्तर … होता है … वह इसमें 'अपनी पितृ… और … की बात करता है और … के आरम्भ में ही उग्रतारा को … अधिक … है कि किन्हीं ग्रह-नक्षत्रों की वजह से यह यंत्रणा अब तक के लिए टा… …खी गयी थी और अब उस नील-कन्या ने उसे वह सब दिया है । कहना चाहूँगा … नियति को उसे इस नील-कन्या तक पहुँचाना था, अतः उसे आरम्भ से ही संस्का…सूत्र की तरह कितनी नीली-पीली कन्याएँ सीढ़ियों के बाद सीढ़ियों की तरह मिल… गयीं । नियति की ऐसी भूमिकाएँ बहुत क्रूर होती हैं और राजकमल अपनी ऐसी ही क्रूर नियति का शिकार था । इसीलिए :

समूचा 'मुक्तिप्रसंग' पढ़ने पर मुझे यों लगा था, जैसे राजकमल एक लम्बी यात्रा से लौट कर महिषी गाँव पहुँच गया है और उतग्रारा के पास बहुत निस्पृह होकर बैठ गया है; बैठकर कह रहा है : 'तुम्हीं ने तो मुझे जाने के लिए विवश किया था । मुझे भेज दिया तो देखो कितनी चोटें पड़ीं । लेकिन मैंने सब भोग लिया है । तुम्हारा दिया हुआ भोगकर मैंने तुम्हें कुछ नहीं कहा है । सुख-दुख सारा, समूचा अमृत-गरल पिया, तुम्हारी याद तक को एक बूँद नहीं दिया । शिकवा ही हो जाता तो फिर मेरी मानवीय ऊँचाई कहाँ होती और कैसे तुम तक लौटता ? अतः मैं शिव हूँ, उग्रतारा ! तुम्हारा दिया हुआ भोग कर मैंने तुम्हें मुक्त किया; अब मुझे मुक्त करो, मेरी पूजा करो । 'मुक्तिप्रसंग' का यह वाक्य 'उग्रतारा, मेरी पूजा करो', मन पर बहुत दूर तक बजता, कौंधता और मूक करता चला जाता है । यही है 'मुक्ति प्रसंग' की तल्खी, जिसके चतुर्दिक दुनियावी और भौतिक तल्खियों का जाल बुना हुआ है । राजकमल की करुणा और दर्प, दोनों एक साथ समन्वित होकर उग्रत…ा को देखते हैं । और यह देखना बहुत व्यक्तिगत है । वह एक नीली नदी है, जहाँ तक वह पहुँचना चाहता है और पहुँचता है तो यंत्रणाग्रस्त, क्षत-वि…त किन्तु दर्पशील ।

अध्यात्म और साहित्य के परस्पर संस्पर्श का अर्थ है, साहित्यकार का परो… सत्ता को स्वीकृति देना और उसमें आत्म-विसर्जन । इसके प्रति… कल्याण और ज़रूरत पड़े एक लंका-काण्ड भी आता है । किन्तु … से । उप…स्थिति वैकल्पिक रही है । राजकमल का अध्यात्म शाक्त… (तारा तन्त्र) तथा उसके दर्शन से सम्बद्ध है । पंच… … यथार्थवादी भी के लिए अनिवार्य है । माँस, मदिरा, मैथुन … अन्तर्गत यह निजी यथार्थवादी विकृति को आत्मसात् करके बड़े व्यंग्य …

पनी जगह … …तैंदार्य से पराजय … जब निम्नगामी … जाती है, और उससे … यंत्रणा में परिणित हो… । यह यंत्रणा 'मुक्ति-प्रसंग' … करता हूँ । … विसर्जन और इष्ट को क्लासिक भाषा की उदात्तता … छूती है, किन्तु चूँकि राजकमल का 'स्व' बहुत दर्पशील है, अतः … उग्रतारा अपनी विराटता नहीं ग्रहण कर पाती । वह वैष्णव क… की तरह 'काम-क्रोध को पहिरि चोलना' या 'जैसे सूकर ग्रामी' वाली भाषा का प्रयोग अपने लिए नहीं करता । उसकी जिजीविषा ब…बलवती है, अतः उसका आत्म-विसर्जन पहले उग्रतारा से पूजा … है । आखिर इतनी दारुण यातना का बदला उसे चाहिए : यातना, जो समूचे विश्व पर प्रवहमान और व्यापक है । यही यंत्रणा का दर्शन राजकमल के यथार्थ को उसके इष्ट से जोड़ता है । इसी यंत्रणा और आत्म-विसर्जन के सिलसिले में वह अपने ऐन्द्रिक पतन, विवशताओं आदि को तमाम प्रश्नचिन्हों से जड़ देता है, समूचे युग पर प्रश्नचिन्ह लगा देता है । प्रश्न-चिन्हों के बीच लोक-कल्याण खो गया है । खो जाने के लिए विवश है और उग्रतारा एक स्थूल प्रतिमा होने से अधिक ऊपर नहीं उठ पाती । बौद्धिकता और प्रश्नों की भीड़ में वह 'ईश्वर' को आक्रोश से पकड़ लेता है और उसे उसकी 'वैष्णवी मुद्रा' के लिए बुरा-भला कहता है । तथा उसे व्यक्ति से लेकर वियतनाम की सारी ऊल-जलूल स्थितियों के लिये अपराधी ठहराता है । शायद राजकमल 'ईश्वर' शब्द से 'नियति' का पर्याय देना चाहता है । फिर भी इस स्थल पर उसका सन्तुलन बिगड़ता हुआ-सा लगता है ।

सब मिलाकर 'मुक्तिप्रसंग' का दर्शन, यंत्रणा, करुणा आदि व्यक्तिगत दर्प का दर्शन है । दृष्टि है : बौद्धिकता और आक्रोश की । मुक्ति दो हैं । एक …जकमल की मुक्ति, जिसके पीछे कोई कथा-सी है, जो कभी उद्घाटित नहीं … गी—'पितृशिला ढूँढने' की कथा । और दूसरी इस 'समय' अर्थात् युग की मु…क्त । दोनों की नियति है यंत्रणा । अर्थात् यंत्रणागत मुक्ति । और 'मुक्ति-प्रसंग' की सबसे महत्वपूर्ण बात है 'उग्रतारा' । ● ●

…ता, वैज्ञानिक … होता है । लेकिन … यौन-संवेद… नेवर्ग के … होता … जीव… …चयन ऑफ़ … और … अधिक … कर…

एक युयुत्सु लेखक की डायरी

शलभ श्रीरामसिंह

•

१०, नवम्बर' ६७ : कंकावती : एक नये मनुष्य का आविष्कार

• •

हम उभरते हैं और सिकुड़ते हुए मृत्यु में विलीन हो जाते हैं ।
किनारों की सीमाओं में घिरी नदी की तरह
अपनी सभी आकांक्षाओं की परिधि में
हम धीरे-धीरे चुकते चले जाते हैं ।
[आज की ज़िद्दी सुबह : राबर्ट जिटिंग्स]

बावजूद इसके अगर यह ठीक है कि कलाकार अपने युग की सीमाओं के आगे नहीं जा सकता, तो कभी-कभी ऐसा क्यों होता है कि कुछ कलाकार अपने युग से बहुत आगे बढ़ जाते हैं, इतने आगे कि उन्हें विद्रूप के वाणों … बिद्ध होना पड़ता है । इसका क्या कारण है ?

अपनी पुस्तक 'नयी समीक्षा' में अपने ही द्वारा उठाये गये इस प्रश्न का … देते हुए श्री अमृतराय ने लिखा है कि : 'कलाकार परिस्थितियों … होते हुए भी उनका दास नहीं होता, उसकी आपेक्षिक … पास रहती ही है ।

'कंकावती' को मैं राजकमल चौधरी द्वारा— … आपेक्षिक स्वतंत्रता से प्रथमतः केवल प… … यथार्थवादी भी पचास प्रतियाँ ही मुद्रित-प्रकाशित होकर … अन्तर्गत यह निजी यथार्थवादी

अपनी जगह ... ह से पराजय ... से साक्षात्कार करा... यह और उससे ... प्रयोग के स्तर से आगे ... महत्वपूर्ण उत्तरों की ... वाले अनेक प्रश्नों से सम्बद्ध भी है। उस तक पहुँचने ... जी ... कार-कर्ता को उन प्रश्नों के उत्तर की खोज स्वयं अपने भीतविन ... के लिए बाध्य होना पड़ता है। उत्तरों की इस विशेष स्थिति ... खोज की बाध्यता के समीप किसी पाठक या व्याख्याकार को साक्षात्कार-कर्ता के रूप में ले जाना या सकना, उन अनेक तथ्यों में से एक और प्रमुख है, जो किसी भी 'कृति' को मौलिक और विचारणीय ... का श्रेय प्रदान करते हैं। मेरे विचार से 'कंकावती' के सम्बन्ध में उठाया जाने वाला एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी हो सकता है : 'क्या कंकावती पूर्ण-रूप से एक कविता पुस्तक है या उस में कविता के अतिरिक्त कुछ और भी है ?' कहना न होगा कि यह प्रश्न विवादों के कई बिन्दुओं और तलों को छू सकने में न केवल तार्किक ढंग से समर्थ है, अपितु नितान्त स्वाभाविक भी है। जहाँ तक मैंने समझा और जाना है, उस आधार पर यह केवल कविताओं का संकलन नहीं है। इसमें कविताओं के अतिरिक्त तार की भाषा में लिखी गई एकाधिक कहानियाँ, नाटक, संस्मरण, डायरी और अध्ययन के समय राजकमल द्वारा लिखे गये कुछ 'नोट्स' भी हैं। 'बीरेश्वर बनर्जी' शीर्षक रचना को 'स्केच' कहने में सम्भवतः किसी को असुविधा या आपत्ति नहीं होगी। रचनाओं के विधागत कोटि-निर्धारण का काम भविष्य के विचारकों और इतिहासकारों द्वारा अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त और उचित रूप में होगा। अस्तु इस दिशा में अपनी विचार-यात्रा को आगे न बढ़ा कर स्थगित करना ही उचित जान पड़ता है। वैसे इसके पीछे राजकमल चौधरी का क्या उद्देश्य हो सकता है या था, यह नहीं कहा जा सक... । इतना जरूर है कि अनिश्चय और अनिर्णय के बीच अपने 'होने' की पहचान के लिए, चिंतन-प्रक्रिया के अपेक्षित आवेग से अपनी रचनात्मकता की रक्षा करते हुए, अविचलित रूप से शब्दायित किये गये 'कंकावती' में ... विचारों ने जो स्वरूप ग्रहण किया है, उसमें ग्रहोन्मुख वैज्ञानिक प्रगति ... पाने के लिए की जाने वाली एक रचनाकार की छटपटा-... के साथ पिकासो के चित्रों की अमूर्तता से अधिक हुसैन के ... की रेखाओं की मुखर अभिव्यक्ति और मध्य-पश्चिम ... सैण्डबर्ग की आत्मा का अनुवाद भी लगभग विद्यमान है। ऐसा, प्रतिमा और अध्ययन से ...रण ही सम्भव हो सका है। इसीलिए

'कंकावती' मंगता, वैज्ञानिक प्रभुता ... होता है। लेकिन ... यौन-संवेद... होकर शैल्पिक ... प्लियन ऑफ़ वीमन को ... होता है ... नीलवियाँ हैं, जो अपने से तादात्म्य ... और पृथकमें भी ... नगंत मूर्खता और दृष्टिहीनता के ... अधिक ... देती हैं। ऐसे ही दायरे में पटके गये एक तादात्म्य-स्थापित-कर्ता के ... से अवगत कराने के खयाल से कुछ पंक्तियों को उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत करना चाहूँगा। यथा : 'कंकावती एक डायरी है। गहरी संवेदना, उखड़ी हुई स्थिति में इस पुस्तक में बिखरी है। कंकावती में उसने सम्भवतः पहली बार हिन्दी कविता के सामने एक नमूना पेश किया है। कंकावती की रचनाएँ नग्न ...' जिन लोगों ने 'कंकावती' को पढ़ा और समझा है, उन्हें इस वक्तव्य के खोखलेपन को पहचानने में तनिक भी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ेगा, जिसे छिपाने के लिए समीक्षक ने आत्मीयता-सूचक सर्वनामों की शरण अकारण और अनावश्यक रूप से ली है। वे भली-भाँति जानते हैं कि उन कविताओं में इसके ठीक विपरीत स्थिरता और शैथिल्य का भ्रम पैदा करने वाली एक ऐसी तीव्र गति है, जिसके समानान्तर चलना लगभग खतरा मोल लेने जैसा है।

विचारों की महीन बुनावट, छन्द मुक्ति के भीतर कविता की सुरक्षा, पौरुष और आहत, किन्तु जिजीविषाभिमुख संवेदना को अपनी विशेषता के रूप में उजागर करने वाली कृतियों के कार से पूर्वाग्रह-ग्रस्त विचारकों अथवा समीक्षकों की अपेक्षापूर्ति सम्भव नहीं। 'कंकावती' के कृतिकार को मैं इसी कोटि के रचनाकारों में मानता हूँ।

•

जीवित रह जाने की ग्लानि से अलग रह जाना चाहता हूँ मैं—
दया किये जाने की ग्लानि से अलग। रोग-दग्ध मैं हूँ, तुम लोग नहीं।
जिबह की गई बकरियों का अपराध मुझ पर है। जाओ, खाली सिनेमाघरों को
बाँट आओ अपना नशा, अपनी नींद। मुझे अपने बूढ़े प्रेत के पास रह जाने दो।
वह मेरे सामने दीवार पर खड़ा होता है।
मैं उसके सामने फर्श पर कराहता रहता हूँ।
वह रोता नहीं, सिर्फ सुनाता है नदी में डूब कर मरे हुए लोगों के किस्से।
मैं थक कर अपनी माँ की गोद में सो जाता हूँ हर रात।
(रोग-दग्ध : कंकावती : ३३)

इस सम्पूर्ण कविता का मूल स्वर बेहद-बेहद ... यथार्थवादी भी लगभग उतना ही है। अपने सम्पूर्ण प्र... अन्तर्गत यह निजी यथार्थवादी

है अपनी जगह ... हमें से ... रक्षा करने में स... यह ... और ... प्रामाणिकता के उदाहर... कर सकने ... हैं। ... लेखक को, जो नवीन सृष्टि करता है, उसे स्वाधीन इसलिए ... कि वह मनुष्य का आविष्कार करता है और उस आविष्कार ... लिए आविष्कर्त्ता में उमंग और आन्तरिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए ... अपने इस कथ्य की पुष्टि के लिए ही शायद बर्ग को यह भी कहना पड़ा है कि 'यदि समाज न्यूटन, कोपर निकस और आइन्स्टीन से ... तत्व की वे खोज कर रहे थे, उसके सम्बन्ध में उन्हें आदेश देता ... उनकी प्रतिमा नष्ट हो जाती।' विचारणीय है कि बर्ग ने अपने कथ्य की पुष्टि के लिए उदाहरण-स्वरूप नोबेल या नीत्शे का नाम नहीं लिया। जैसा कि सर्वविदित है नोबेल के आविष्कार की उपयोगिता मानवीय हितों के लिए होकर भी भयंकरता के चरम बिन्दु पर अवस्थित है और नीत्शे के द्वारा ईश्वर की मृत्यु का एलान किया जा चुका है। जहाँ तक 'कंकावती' के लेखक का प्रश्न है, इनकी श्रेणी से भिन्न और एक ऐसे युग में अपने को स्वाधीन समझने और रखने की कोशिश उसके द्वारा की गई, जब इस देश में —सामाजिक सम्पदा की वृद्धि के साथ ही साथ बेकारों की विशाल सेना भी मौजूद है। नियमित रूप से काम पर लगे हुए मजदूरों की तनख्वाह को उद्योगपतियों के लिये लाभदायक स्तर पर बनाये रखने की गरज से उन पर दबाव डालने के लिए पूंजीवादी वर्ग इन बेकारों से काम ले रहा है, परन्तु साथ ही साथ मेहनतकशों का क्षोभ और विरोध तीव्र होता जा रहा है। उत्पादन के सामाजिक रूप और प्राप्ति के व्यक्तिगत रूप के बीच विरोध अधिक ...्र होता जा रहा है। समाजवादी क्रान्ति की व्यक्तिगत और वस्तुगत सम्भावनाएँ पैदा हो रही हैं।—इन सम्भावनाओं का संक्रमण ऐसी स्थिति में और सामूहिकता के सन्दर्भ में होने के लिए है, जिससे अपनी चेतना और चिंतन-शक्ति को जोड़कर स्वस्थ और दुर्घर्ष मनुष्य की खोज कर पाने की अपेक्षा ...जकमल द्वारा प्रकृति से 'अस्वस्थ' और स्वभाव से 'फक्कड़' मनुष्य की थे, ... का किया जाना, इसलिए भी समीचीन है कि वह जिस वर्ग से सम्बन्धित कठिन ... दृष्टि परिधि में इससे इतर या पृथक मानव-स्वरूप का आ पाना सिर्फ ... भी, इस मनुष्य का आविष्कार कर पाने में सिर्फ और होकर लोगों ने, ... नहीं किया। 'कंकावती' हो सका कि उसके जीवन जीने की पद्धति से आंतकित सहयोग से जन्म लेने वाला सम्बन्ध में प्रश्न या फ़र्माइश करने का साहस ही ...ना-प्रक्रिया और चिंतन-प्रक्रिया के पारस्परिक ...अपेक्षाओं के अनुसार आत्मसाक्षात्कार,

नव-प्रयोग-धर्मिता, वैज्ञानिक प्रभुता होता है। लेकि... यौन-संवेद... के फ्रायडियन प्रभाव, ऐब्लियन आफ़ वीमन ... में असमर्थ होता ... और ... विरोधाभास, आदिम ... और मिथकों आदि ... कर अस्तित्व में आने के कारण ... तरों का गला दबोचते प्रश्न-चिन्ह जैसा लगता है, ऐलानिया चीख-चीख ... कहता हुआ कि :

माया अब वेश्या है। सबकी
बाँहों में समाई हुई सबके होठों पर
बसी रहती है। इसके विवस्त्र अंगों में
अब कोई अर्थ नहीं।

•

१६ नवम्बर ६७ : कंकावती : भावी कविता की पृष्ठ-भूमि

•

हम जुड़वें बच्चे हैं। एक-दूसरे की नंगी पीठ पर
फूल पत्ते आँकते हैं। छतनार पेड़। घनी छाँव वाली
सड़कें। बाज़ार। मछलियाँ। हम अपनी उम्र चौगुनी करके
देखते हैं घड़ी में वक्त।

[दाम्पत्य : शशि के साथ : कंकावती : पृष्ठ ३१]

उपर्युक्त उद्धरण में निहित तथ्य को जानने के लिए दम्पति-सम्बन्ध को संवेदना से अनुभूति के स्तर पर परिचित होना तो जरूरी है ही, साथ ही आदमी के प्रति, खूबसूरती के प्रति, वास्तविक सुख और वास्तविक स्वाधीनता के प्रति अपने प्यार को साबित करने के लिए लेखक को अपने इर्द-गिर्द फैली हुई भीड़, अपने साथ लेकर चलते हुए बुद्धि और बल और संगठन की हर राजनीति के हर मोर्चे पर रुके हुए जुलूस में शामिल होना होगा। और एक ऐसे लेखकीय व्यक्तित्व की पहचान के लिए तो यह और भी आवश्यक है जो अपनी विद्या, बुद्धि और चयन-क्षमता के लिए स्वयं को जिम्मेदार मानता रहा हो, जो केवल अपने और अपनी कविता के वर्त्तमान में जीता हो, क्योंकि उसके अनुसार वर्त्तमान इतना खूबसूरत, इतना जीवन्त हुआ करता है कि उसे कभी अतीत या भविष्य में डूबने ही नहीं देता। बावजूद इसके कि आज बहुत सारे लोग समाज से व्यक्ति की ओर, सामाजिक सम्बन्धों से व्यक्तिगत धर्म की ओर कविता में वापस आ रहे हैं। इसका ठीक ... उसी अनुपात में हो रहा है। यह वापसी कविता के भविष्य ... रण में कहाँ तक सहायक

सिद्ध होगी ? यह ... हुए भी 'कंकावती' के चर्चा-सन्दर्भ में हमारा ... करता, जितना कि यह ... साम्प्रतिक कविता-लेखन ... 'कंकावती' का क्या स्थान है ? उत्तर एकदम स्पष्ट और नकारात्मक है, किन्तु ऋणात्मक ... कारण यह है कि समकालीन लेखन अपनी पूर्णता के सन्दर्भ में अधिकांश प्रतिक्रिया-जन्य और विघटनात्मक प्रभाव उत्पन्न करने वाला हो, ... बल्कि राजनीति के दलदल में इस तरह से धँसा-फँसा हुआ भी है ... इसकी तात्कालिक स्थिति की उपेक्षा करके, उसके सम्बन्ध में किसी ... प्रकार का निर्णय कर पाना अथवा देना कठिन है और उसे बाँट ... पाना तो और भी मुश्किल काम है। फिर भी ऐसा हो रहा है और धड़ल्ले के साथ हो रहा है। ऐसा नहीं होने से समीक्षा-धर्म के उन्मूलन का खतरा जो है। उसके विरोध और समर्थन में अनवरत वक्तव्य प्रकाशित-प्रसारित हो रहे हैं, जिसके परिणाम-स्वरूप साहित्यिक ऐतिहासिकता को इतने चक्करदारी और सँकरे रास्तों से होकर गुज़रना पड़ रहा है। कब-कहाँ-क्या 'जेनुइन' छूट या रह जायगा, कह पाना कठिन है। 'कंकावती' उन्हीं चक्करदार रास्तों पर दीवानावार फिरती ऐतिहासिकता के सामने एक 'विराम' के रूप में आती है। कहना न होगा कि वहाँ कविता परिभाषा से मुक्त-मात्र भाषा है, जो किसी भी देश-काल अथवा व्यक्ति की हो सकती है। हर प्रकार की सीमान्तीयता को अस्वीकारती हुई वह, सामने आई असंगतियों को झेलते और उनसे जूझते व्यक्ति को नये परिवेश में प्रतिष्ठित करके, जीवन की निरन्तरता और व्यक्तिमूलक आदिम चेतना की अनिवार्य शर्तों से जुड़ी रहना अपनी चूड़ान्त संगति एवं परिणति मानती है। प्रचलित मतवादों से वैचारिक स्तर पर पृथक रहकर आधुनिकता के सन्दर्भ में वह सार्वभौम के प्रति उदार दृष्टिकोण रखती हुई जातीय-वृत्त की रक्षा की माँग को ज़रूरी समझती है। चिंतन की द्वन्द्वात्मक स्थितियों के बीच से उभर कर आई हुई अभिव्यक्तियों के लिए वह एक ऐसी भाषा की ज़रूरत महसूस करती है, जो मुखौटाधारी अनुचिंतनों को ... कारने और चिन्तन क्षेत्र की सर्वस्तरीय युद्ध-स्थिति को व्यक्त कर सकने में सक्षम हो। उसे न 'प्रयोगवादी' कविता कहा जा सकता है, न 'नकेनवादी' और नहीं 'नयी कविता' और इनकी प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप अस्तित्व में आने वाली ... कथित प्रचलित काव्य-प्रवृत्तियों के साथ इसे जोड़कर देखने का तो सवाल ही नहीं पैदा होता। 'कंकावती' के भीतर उसकी अवस्थिति का पता लगाना दुष्कर कार्य है। वह इसे छूती हुई-सी प्रतीत होती है और उसी छुअन के बोध-बिन्दु पर ... भाव व्यक्त हो जाता है, जिसमें एक बेहद-बेहद साफ स्थिति को देखा जा स... है। जैसे :

... ही होता है। लेकिन
उनके पत्थरों का महल था ... में असमर्थ होता ही मिलने
काली नदी के पार। जलधारा में डूबे स्तूपों ने ...
नहीं किया है अब तक मृत ... का ...
स्वीकार।

[सामन्ती : कंकावती : पृष्ठ : तीस]

ये पंक्तियाँ इतना तो प्रकट कर ही देती हैं कि तमाम सामाजिक मूल्यों तथा नैतिक मान्यताओं में थोथेपन की तलाश करने वालों की माँग 'कंकावती' के कवि को जीवन तथा सामाजिक परिवेश के बीच अकेलेपन और अजनबीपन की आरोपित और आयातित स्थिति से स्वयं को जोड़ने की आवश्यकता नहीं ही महसूस हो रही है और न वह तज्जनित संत्रास के चित्रण को, भयावह काव्य-स्थिति का नियन्ता बनाने के दुराग्रह से—'सहायक' ही समझ रहा है। उसके अनुसार कविता व्यक्ति के 'व्यक्ति-सत्य' को स्थापित करती है।—जानने वाले अच्छी तरह जानते हैं और अब तो यह बात ऐतिहासिक तथ्य का रूप ग्रहण कर चुकी है कि : 'राजकमल चौधरी की ख्याति एक विद्रोही कवि के रूप में है। उनकी कविता का विद्रोह आज की त्रिकोणात्मक और शोषक व्यवस्था के प्रति है। जिसके एक छोर पर वैज्ञानिक मदान्धता, दूसरे छोर पर व्यावसायिक व्यभिचार-वृत्ति तथा सब से शीर्ष पर राजनीतिक अहंवादिता स्थित है।' : 'डा० राममूर्ति त्रिपाठी ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास के ४५१ वें पृष्ठ पर आगे यह भी लिखा है कि : 'कवि कर्म की कठिनता का कारण केवल यही नहीं है। इसके बीच घिरा हुआ जो समाज है, उसमें भी जो अवशिष्ट है, वह तो इतिहास की जूठन है या यौन कुण्ठाएँ हैं। ऐसी स्थिति में काव्य की संवेदना का प्रश्न उठाना भी निरर्थक है।' इसके बाद यह निवेदन कर देना अनुचित नहीं होगा कि डा० त्रिपाठी की 'काव्य की संवेदना', 'कंकावती : एक नये मनुष्य का आविष्कार' की 'जिजीविषाभिमुख संवेदना' से भिन्न और साधारणतः प्रचलित अर्थ-आयाम को उद्घाटित करने वाली संवेदना के स्तर की ही है। अस्तु विरोधाभास की गुंजाइश नहीं रह गई। और ना ही इस आशय से मुक्त किसी प्रश्न का कोई मतलब ही होगा। विशेष स्पष्टीकरण के लिए पूर्व-उल्लिखित संवेदना को व्यक्त करने वाली 'देया-नेया' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ ही पर्याप्त हैं :

चौराहों की भीड़ में खड़े लोग मुझे क्या ...
देते हैं, क्रोध या अपनापन—मेरे लिए म... ...ता।

पेड़ ... यह
कुछ ... मोड़ से अलग, अपने
अकेले ... न बना देता हूँ, प्यार या
बेग...पन—सिर्फ़ इतना ही दर्द पी ले... की फ़ु...।

'फ़ुर्सत' का यह अहसास जहाँ संवेदना की स्थिति को स्पष्ट करता है, वहीं राजकमल के उस स्वाधी... कलाकार के व्यक्तित्व के चारों ओर विशिष्टता की विभाजन रेखा खींचने में भी समर्थ है, जो 'अस्वस्थ' और 'इक्कड़' ही सही—लेकिन इन विशेषणों से युक्त हो सकने की क्षमता से भरपूर एक नये मनुष्य का अविष्कारक है। समकालीन कविता की सर्वाधिक दुखद स्थिति यही है कि आज उसके पास आविष्कर्त्ता और स्वतन्त्र-चेता कलाकारों का न केवल अभाव है, अपितु वह वैचारिक दासता से अनुप्राणित शक्तियों के हाथों सांस्कृतिक विघटन के शतरंज में मुहरे की तरह दांव जीतने के लिए किये गये प्रयत्नों का माध्यम बन कर रह गई है। इसलिए भी 'कंकावती' का तालमेल उसके साथ बिठाना अनुचित और आगे के लिए विवादास्पद है। अस्तित्व में आने वाली भविष्य के गर्भ में छिपी किसी काव्य-प्रवृत्ति या धारा-विशेष की पृष्ठभूमि के रूप में सम्प्रति इसे स्वीकृति प्रदान करना ही अपेक्षाकृत अधिक न्याय और युक्ति-संगत होगा। फिलहाल तो उसका भोंडा अनुकरण ही प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसका होना और न होना लगभग एक-सा है।

१९, नवम्बर '६७ : कंकावती : भाषा—शिल्प और कुछ प्रश्न

शब्दों और वर्णों के अन्तराल, विराम और अर्द्ध-विराम आदि संकेत-चिन्हों की उपेक्षा करके 'कंकावती' की भाषा को सहज, सपाट, बिम्ब-धर्मिता के संकट से मुक्त समझना या कहना, साम्प्रतिक समीक्षकीय दिवालियेपन को प्रमाणित करने वाली स्थिति का परिचायक मात्र हो सकता है, 'कंकावती' की भाषागत विशेषता का उल्लेख नहीं। संकेत और विन्यास के धरातल पर टिके हुए 'कंकावती' के भाषा-शब्द प्रयोगोन्मुख और पाठकीय समझ की माँग करने वाले हैं। इसीलिए परिलक्षित शैल्पिक वक्रता भी आज की बहु-प्रचारित वक्रता ...र अनाय... से सर्वथा भिन्न है। सायास। अनायास। 'कंकावती' की भाषा एक... जान पड़ती हुई भी कुल तीस प्रतिशत

... होता है। लेकिन लोगों के लिए है। उसमें से भी समझने ... में असमर्थ होता है ... मिलेंगे ... जाने शीर्षकों, बीच-बीच की पंक्तियों और वर्णों के ... और मैथिली के शब्दों का मिलना के बीच कहीं-कहीं अंग्रेजी, ..., उर्दू, और मैथिली के शब्दों का मिलना या स्वरूप ग्रहण करते हुए दिखना ... इस कथ्य की पुष्टि के लिए काफ़ी है। 'कंकावती' का शिल्प 'प्रकाश-शिल्प' है। ...ति अनेक रंगों से युक्त (यहाँ तक कि कुछ रंगों को व्यक्त करने वाली किरणों का ...करण तो हो सकता है लेकिन उनसे उत्पन्न होने वाले रंगों का नामकरण नहीं हो सकता) इसीलिए वह कहीं भी आसानी से पहचान में आ जाता है। एक दृष्टि ... लोगों को ऐसा लग सकता है कि उसे (शिल्प को) माध्यम बनाकर कृतिकार कविता को गद्य के एकदम समीप ले जाना चाह रहा है, लेकिन यह गद्य में सिमटती जा रही कविता की रक्षा के लिए है। काव्यात्मक त्वरा को नियंत्रित और मर्यादित रखने की दृष्टि से ही इस 'प्रकाश-शिल्प' का चयन कवि ने निज की अभिव्यक्ति के लिए किया है। यहाँ 'कण्टेण्ट' न तो 'फार्म' की उपेक्षा करता है और न 'फार्म' 'कण्टेण्ट' के साथ ज्यादती। दोनों एक-दूसरे को सहेजते और सम्हालते हुए चलते हैं।

अन्त में 'कंकावती' से सम्बन्धित कुछ प्रश्न इस प्रकार के उठाना चाहता हूँ : (१) इसके माध्यम से 'व्यक्ति' का विश्लेषण सम्भव है या व्यक्तिगत सामाजिकता का ? (२) राजकमल की अन्य काव्य-कृतियों के साथ पूर्वापर 'कंकावती' को क्रमिक विकास की कड़ी के रूप में स्वीकारना उचित होगा या सर्वथा भिन्न और स्वतन्त्र ? (३) हिन्दी नवलेखन में निजी यथार्थ-बोध की यह एकमात्र विवादास्पद कृति है, इससे कहाँ तक सहमत हुआ जा सकता है ? और (४) 'कंकावती' के प्रारम्भ में स्वयं कवि के द्वारा उठाये गये प्रश्नों का कोई आधारभूत सम्बन्ध कृति से है अथवा नहीं ? ● ●

राजकमल की काव्य-कृति मुक्तिप्रसंग

केदारनाथ अग्रवाल

•

'मुक्तिप्रसंग' एक ऐसे कवि-आदमी की काव्य-कृति है, जो अपनी इस रचना में खुलकर, निर्बाध गति से व्यक्त हुआ है। प्रस्तुत पुस्तक उसके व्यक्तित्व का उतना ही अनूठा संस्करण है, जितना वह उसके काव्यत्व का अनूठा संस्करण है। व्यक्तित्व और काव्यत्व, दोनों एक दूसरे के परम पूरक होकर मुक्ति के प्रसंग को पूरा कर सके हैं।

राजकमल का जीवन—जिसे उसने जिया, बिना किसी हिचक के—सम्भोग के—सम्भोग के छोर से लेकर छत से झूलती रस्सी के फन्दे तक और फिर सर्जिकल अस्पताल तक व्यतीत हुआ है।

संस्कारी नहीं, राजकमल का सम्भोग असंस्कारी रहा है। उसके सम्भोग की दिशा मर्यादित नहीं, अमर्यादित सम्भोग की दिशा रही है। अमर्यादित सम्भोग में राजकमल को अहं से मुक्ति मिलती रही है।

अन्त में राजकमल मृत्यु को भोग कर अहं से मुक्ति पाकर ही रहे।

राजकमल ने यह कविता अपने मरने से पूर्व फरवरी-जुलाई १९६६ ई० में पटना-अस्पताल, राजेन्द्र सर्जिकल ब्लाक, के 'ई' वार्ड में लिखी थी। इसका प्रकाशन १५ अगस्त १९६६ ई० में हुआ।

यह लम्बी कविता—[illegible] स्वर और स्वभाव की—हिन्दी की पहली ऐसी कविता है।

आदि से अन्त तक इस कविता [illegible] स्वर में आक्रोश-ही-आक्रोश है और वह आक्रोश उस स[illegible] तक चला गया [illegible] से वह केवल प्रलय होकर वर्तमान को ध्वस्त करता प्रतीत होता है [illegible] होता है। लेकिन [illegible] लगता है कि कवि के मन में मार्कण्डेय मुनि का अस्तित्व है, जो [illegible] में असमर्थ होता है। मार्कण्डेय मुनि की यह कल्पना ही इस कविता को एक ऐसे [illegible] स्थापित करती है, जिस धरातल [illegible] मृत्यु के बाद भी कवि की पुर्नजन्म पाने की आस्था उत्पन्न होती है। यदि यह आस्था भी इस कविता से निष्कासित कर दी गई होती तो इस कविता में कोई भी [illegible] मूल्य शेष न रहता। इस आस्था के होने पर भी इस कविता का मूल्य-स्वर [illegible] और विवादी स्वर है, जो अपने पूरे आघात के साथ शत-प्रतिशत अन्धकारमय है और यह अन्धकार, एक ऐसा अन्धकार है, जिसमें मनुष्य की सत्ता, उसका इतिहास, [illegible] की सभ्यता और संस्कृति, उसका निर्माण उसका क्रिया-कलाप और उसकी अब तक [illegible] प्राप्त की हुई सिद्धियाँ और सफलताएँ, सब-की-सब बेकार हो जाती हैं और उनका महत्व शून्य में परिणित हो जाता है।

मैं मानता हूँ कि आज के जी रहे लोग एक मरा हुआ, संत्रस्त, पराजित, एवं विघटित जीवन जी रहे हैं और यह जीवन कुछ वैसा ही जीवन है, जिसे राजकमल जीवन जीना नहीं समझते। यह जीवन व्यक्ति का जीवन है और यही जीवन समाज का जीवन है और यही जीवन प्रत्येक राष्ट्र का जीवन है और यही जीवन स्थान-स्थान पर अनेकानेक विघटित रूपों में प्रगट हुआ है। इसलिये राजकमल व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और अन्तरराष्ट्र के मिटा दिये जाने की अपनी बलवती लालसा उद्घोषित करते दिखाई देते हैं। वह स्वयं इस विध्वंस की बांसुरी बजाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वह इस सब अवांछित और असुन्दर के मूल कारण में न जाकर, इस सबको अपने इन्द्रिय-बोध मात्र से तांत्रिक की तरह ग्रहण करते हुए दहल जाते हैं और इस सब के विरुद्ध वैचारिक कुठाराघात करते हैं। यह कुठाराघात चाहे जितना ईमानदार रहा हो, निश्चय ही एक विक्षिप्त हुए व्यक्ति का किया गया कुठाराघात है। यह कुठाराघात प्रलय से प्रेरित हुआ कुठाराघात ही है। इस कुठाराघात के पीछे समस्त मानवीय मनोबल की और समस्त मानवीय विचारों की प्रेरणा नहीं रही। राजकमल ने इस कुठाराघात को अपने अनेक स्मरणीय अनुबन्धों से जोड़कर निसन्देह संवेदनशील एवं मार्मिक बनाया है, किन्तु वह ग्रहणीय होकर भी त्याज्य बना रहता है। केवल वर्तमान को ही स्वीकार करके और उसकी दशमुखी संत्रस्तता को जीकर ही कोई भी व्यक्ति ऐसे वर्तमान को और उसकी संत्रस्तता को तब तक विनष्ट करने का अधिकारी नहीं हो सकता, जब तक वह व्यक्ति वास्तविकता और यथार्थ को उनके [illegible] परिप्रेक्ष्य में देखने का कष्ट नहीं करता। मैं समझता हूँ राजकमल [illegible] इस कविता की सबसे बड़ी

कमजोरी यही है कि [illegible] के अन्दर के जी रहे आदमी की का[illegible]ता [illegible] राजकमल के अन्तस्तल में कोई अघोरी बैठा है [illegible] वाणी में अपने को व्यक्त करता है। इस अन्दर जी रहे अघोरी की मूल-आस्था जिजीविषा के प्र[illegible] आग्रही अवश्य है, परन्तु यह आदमी भी जिजीविषा के स्वस्थ स्वरूप [illegible] सर्वथा अनभिज्ञ है। यह जी रहा आदमी—यह जी रहा तांत्रिक [illegible] रहे राजकमल के अतिरिक्त कोई दूसरा आदमी या तांत्रिक नहीं है। राजकमल ने अपने वर्तमान के दो रूप देखे और दिखाये हैं। उनके देखे और दिखाये गये दोनों रूप उनके ही उस व्यक्ति को ही उद्[illegible]त करते हैं, जो अपने एक रूप में जीना तो चाहता है, मगर [illegible] रूप में सबका सब कुछ विध्वंस देखना चाहता है। यह दोनों रूप अत्यन्त संकुचित और सीमित हैं। इस दोनों रूपों को न मनुष्य का मनुष्य-रूप मिला है, न मनुष्य की मानवीय आयु मिलती है। यह दोनों रूप-वर्तमान के सम्पूर्ण विघटन से ही प्रेरित होकर विस्फोटित हुए हैं। राजकमल को इस विध्वंस के बाद की परिणति का कोई भी ज्ञान नहीं हो पाया और इसलिये राजकमल मार्कण्डेय मुनि की कल्पना करके ही अपने को सन्तुष्ट कर सके और यह उद्घोष कर सके कि वह आदि-शिशु को वट-वृक्ष के नीले पत्ते से उठा कर पृथ्वी पर लायेंगे।

मैं इस उद्घोष को केवल बीमार व्यक्ति का उद्घोष ही कहूँगा।

वास्तव में विध्वंस के बाद भी मनुष्य मुक्ति नहीं पाता। विध्वंस के पीछे और आगे अतीत और भविष्य होता है। अतीत और इतिहास अवांछित के विध्वंस की प्रेरणा देते हैं। भविष्य विध्वंस के बाद नये के निर्माण का सन्देश देता है। राजकमल के पास न इतिहास है और न भविष्य है। इसलिये राजकमल न वर्तमान की समस्याओं से संघर्ष कर सके, न भविष्य का स्वरूप देख सके।

विध्वंस अपने आप में कोई महत्व नहीं रखता। उसका महत्व इसमें है कि वह जीर्ण-शीर्ण को ध्वस्त करे और मनुष्य को अवसर दे कि मनुष्य जीवन जीने [illegible] अपने परिवेश, अपने समाज, और राष्ट्र में सक्रिय-रूप से संघर्ष करे और इस प्रकार जिये कि उसका भविष्य उसके मन के मुताबिक स्वस्थ, सुन्दर और शिव हो। समस्याएँ विध्वंस से समाप्त नहीं होतीं। आये दिन नई-नई समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। आये दिन मनुष्य नयी-नयी समस्याओं का सामना करता है और आये दि[illegible] समस्याओं से जूझता है और समस्याओं को सुलझाता है। मनुष्य की यही निया[illegible] है। इस नियति से बाहर चले जाने की शक्ति मनुष्य में नहीं है। इसीलिये म[illegible] को, परिवेश को संघर्ष के द्वारा बदलना बदा है। परिवेश का बदलना विध्वंस से [illegible] होता है। लेकिन विध्वंस का सहारा वही व्यक्ति लेता है, जो परिवेश पर काबू [illegible] में असमर्थ होता है [illegible] इसलिये कोई भी व्यक्ति विध्वंस करके न स्वयं ही जी सकता [illegible] दूसरे को जीने दे सकता है। मुक्ति पाने का प्रयास संघर्ष का प्रयास है; और संघर्ष का प्रयास समस्याओं पर विजय पाने [illegible] प्रयास है; और समस्याओं पर विजय पाने का प्रयास मनुष्य का अपने अधिकार पा[illegible] प्रयास है; और मनुष्य का अपने अधिकार पाने का प्रयास दूसरों के अधिकार को सुरक्षित रखने का प्रयास है; और दूसरों के अधिकार को सुरक्षित रखने का प्रयास ही एक समुन्नत समाज में भाईचारे के साथ जीने का प्रयास है; औ[illegible] प्रयास वास्तव में मुक्तिप्रसंग के अतिरिक्त, कोई दूसरा मुक्तिप्रसंग नहीं है [illegible] राजकमल ने इस प्रयास का भरपूर अवहेलना की है। जिस प्रसंग को राजकमल ने मुक्त के प्रसंग की संज्ञा दी है, वह प्रसंग वास्तव में मनुष्य की मुक्ति का प्रसंग नहीं है। वैसा प्रसंग निरर्थक प्रसंग है और वैसी मुक्ति शून्य की मुक्ति है। यह कविता कदापि मनुष्य की मुक्ति के प्रसंग की कविता नहीं है। राजकमल ने मुक्ति नाम की सार्थकता उधार ली है और इस उधार ली हुई सार्थकता से मनुष्य को उसके सन्त्रास से उबार सकने की सामर्थ्य दिखलाई है। निस्सन्देह राजकमल का यह प्रयास अपने आप में एक अनूठा प्रयास है और यह अनूठा प्रयास हिन्दी को उपलब्ध होकर भी एक निस्सार प्रयास मात्र है। यह कविता अपने ढंग की अनूठी कविता होकर भी एक असफल कविता है।

यह कविता इसी अर्थ में एक नयी कविता है कि यह नये के संस्कार लेकर भी नये मनुष्य की नयी कविता नहीं है। इस कविता में छन्द भी टूटे हैं और पंक्तियाँ भी छोटी-बड़ी हुई हैं और इसकी बिम्ब-योजना आक्रोश की बिम्ब-योजना होकर भी जीवन जीने वाले आदमी के आक्रोश की बिम्ब-योजना नहीं है। सब कुछ कह कर भी—लिख कर भी—राजकमल इस कविता में मानवीय उद्धार की बात नहीं कह सके—न लिख सके। इस कविता में आमूल परिवर्तन किये जाने की उत्कट हार्दिक अभिलाषा है और विश्व की घटनाओं के संक्रम[illegible] का वात्याचक्र है और विभाजन एवं खण्डित मनुष्य की बहुमुखी विघटित सम्वेदनाएँ हैं। फिर भी, इस सबके बावजूद भी यह पूरी कविता आदमी की कविता नहीं है। इस कविता में राजकमल के मानसिक विकार का ग्राफ अवश्य मिलता है। लेकिन इसमें मनुष्य के संघर्ष का लवलेश भी चित्र नहीं मिलता है। यह हमारा और हिन्दी का, दोनों का, दुर्भाग्य है कि ऐसा जागरू[illegible] और सचेत कवि भी अपनी सशक्त वाणी से सामाजिक सत्य को, न [illegible] इन्द्रिय-बोध से ग्रहण कर सका और न अपने बौद्धिक बोध से ही [illegible]ण कर सका। राजकमल ने

अपना मुक्ति के प्रसंग ... और मनुष्य की ... के प्रसंग में 'एक मसनवी' सत्य को ग्रहण किया ... और इस 'मसनवी' ... के द्वारा ही अपनी और मनुष्य की मुक्ति का स्वप्न ... या है। यह कविता इस स्वप्न की प्रतिलिपि होकर भी शून्य की प्रतिलिपि हो गई है। इस ... में न शौर्य है, न साहस है, न विवेक है, न बुद्धि है और न कर्म है।

प्रश्न उठता है कि आखिर राजकमल मर कर फिर जन्म लेकर संसार में आने के लिये लालायित क्यों हुए : राजकमल की इस कविता में इस प्रश्न का उत्तर केवल विध्वंस और विस्फोट से दिया गया है। विध्वंस और विस्फोट के बाद के संसार का ... भी चित्र नहीं प्रस्तुत हुआ।

मैं ... जानता हूँ कि यह कविता केवल कविता है और जीवन जीने की कोई थीसिस नहीं है। फिर भी प्रत्येक कविता के साथ जीवन जीने की लालसा भी जुड़ी होती है और वह लालसा जीवन को जिलाये रह कर स्वयं जीती है, और जीवन को अनेक प्रकार से प्रेरित करती रहती है कि जीवन का विध्वंस एक-न-एक दिन असम्भव हो जाय। इसलिये यह कविता होने के बल पर कविता होकर नहीं जी सकती। यह तो मनुष्य के पतन की कविता है।

यह कुछ भी समझ में नहीं आता कि तेरह हजार वर्ष पहले मेरुदंड पर्वत की काली चट्टानों के पत्थरों से तराशी गई एक तेरह वर्ष की लड़की 'उग्रतारा' भला करोड़ों मनुष्यों का कैसे उद्धार कर सकेगी ? राजकमल ने ऐसी लड़की के द्वारा मनुष्य जाति के उद्धार की कल्पना की है। ऐसी कल्पना और ऐसी प्रवृत्ति के पीछे निस्संदेह मनुष्य की उस आदिम अज्ञानता का ही बोध होता है, जो मनुष्य को कन्दराओं में, पशु-पक्षियों और कल्पित देवताओं की आकृतियाँ रेखांकित करके जीवन व्यतीत करने के लिये और तब के परिवेश पर काबू पाने के लिये विवश करता था, जब विज्ञान से वंचित मनुष्य वैसा करने के लिये बाध्य था, किन्तु आज वैसा करने के लिये मनुष्य बाध्य नहीं है। तब मनुष्य ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों से अनजान था। तब मनुष्य के लिये 'उग्रतारा' की कल्पना करना और उस कल्पना के बल पर मनुष्य का अपना जीवन संवारना क्षम्य था। परन्तु अब, आज युगों बीत जाने के बाद, किसी 'उग्रतारा' की कल्पना करना और मार्कण्डेय मुनि होकर मनुष्य के पुनरुद्धार कर सकने की इच्छा प्रगट करना विफल कल्पना करना और विफल इच्छा करना ही कहा जायगा।

कविता मनुष्य की कृति है। मनुष्य के मन की सृष्टि है। मनुष्य के लिये है। 'मुक्तिप्रसंग' कदापि ऐसी कविता नहीं है।

कवि श्री अज्ञेय को समर्पित होकर भी यह कविता मनुष्य को समर्पित नहीं हो सकी। ● ●

मुक्तिप्रसंग : आत्म-स्वीकृतियों-भरा एक लम्बा वक्तव्य

परमानन्द श्रीवास्तव

●

'मुक्तिप्रसंग' की समीक्षा, उसे एक सम्पूर्ण लम्बी कविता मानकर की जा सकती है, इसमें मुझे सन्देह है। राजकमल की शायद तमाम कविताओं को मिलाकर एक सम्पूर्ण कविता के रूप में देखा जा सकता है। तब शायद कवि का कविता का 'संसार', 'कविता' में ही देखना सम्भव हो सके। अभी तो उसमें तमाम दिक्कतें हैं, जब 'मुक्तिप्रसंग' को ही आधार मानकर यह टिप्पणी लिखी जा रही है। यों ही नहीं है कि सबसे पहले प्रकाशित काव्यकृति के मुखपृष्ठ पर ही रुक जाना पड़ता है, जिस पर राजकमल की रोग-गाथा लिखी है। इसे सिर्फ 'प्रदर्शन' ही नहीं कहा जायेगा, क्योंकि किसी अर्थ में 'प्रदर्शन' तो सारा 'काव्य व्यापार' ही है, जबकि अलग से हम मानते हैं कि उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। मुक्तिप्रसंग की काव्य-वस्तु पर नजर डालने से पहले पत्र रूप में लिखी हुई अज्ञेय जी की लिखी हुई कुछ पंक्तियाँ भी ध्यान आकर्षित करती हैं : 'मृत्यु का स्वीकार····चेतना की एक गहरी आवश्यकता है; और उस स्वीकार से एक तरह की स्वस्थता भी मिलती है।····स्वीकार के बाद मृत्यु को हटाकर एक ओर रख दिया जा सकता है और जिया जा सकता है····।' यह पत्र-अंश राजकमल ने प्रकाशित करना जरूरी समझा तो इसलिए नहीं कि वह 'सर्टिफिकेट' है, बल्कि इसलिए कि इसमें उस द्वन्द्व का प्रासंगिक संकेत है, जिससे राजकमल को अपनी रचना-प्रक्रिया और जीवन-प्रक्रिया में निबटना पड़ा है और 'मुक्तिप्रसंग' लिखकर भी जिससे वह मुक्त नहीं हुआ है। 'अपने वर्त्तमान में जीवित रहकर' राजकमल ने अनुभव किया था : 'मृत्यु की सहज स्वीकृति से देह की सीमाओं, संगतियों और अनिवार्यताओं से मुक्त हुआ जा सकता है'। यहीं उसने यह भी लिखना जरूरी समझा : 'दो समानधर्मा शब्द : जिजीविषा और मुमुक्षा-इस कविता के मूलगत कारण हैं।' वर्त्तमान की समस्त विकृतियों में जीवित रहना राजकमल की नियति थी—जीवित ही नहीं मुक्त और स्वाधीन भी। राजकमल के शब्दों में यही मनःस्थिति इस कविता की ...

कारण ही नहीं, मुक्तिप्रसंग' ऐसी कविता नहीं है, जिसे दूसरी बार पढ़ना सहज हो सके। ... सन्दर्भों और बिम्बों के बावजूद ऐसी भयानक एकरसता इस सम्पूर्ण कविता में है कि वह बस पहली ही बार पढ़ी जा सकती है। मैं यहाँ किसी काव्य-यदोष के रूप में 'एकरसता' की चर्चा नहीं कर रहा हूँ, क्योंकि यहाँ वह एक युग की सम्पूर्ण अपरिहार्य मनःस्थिति है। दूसरे शब्दों में एक ऐसा बिन्दु है, जिसे आधार मानकर मुख्य काव्य-वस्तु की व्याख्या की जा सकती है। कभी यह भी लगता है कि यह 'भयंकर एकरसता' जानबूझ कर लाई गई है, स्वाभाविक नहीं है। 'जानबूझ कर लाने' की संगति यहाँ ... था भूखी पीढ़ी की कविता के प्रभाव को ग्रहण करने की प्रवृत्ति के साथ भी बैठ जाती है। सब मिलाकर चित्र जैसा भी अपना, अपने परिवेश और उसके मोहभंग का, अपने समय की क्रूर वास्तविकताओं का—उसे दूसरी बार देखते हुए दहशत होती है। इस तरह एक नितान्त असुखद अनुभव की कविता है : मुक्तिप्रसंग—जिससे कवि लिखते समय और पाठक पढ़ते समय गुजरने के लिए अभिशप्त है।

अतीत और भविष्य से कट कर वर्त्तमान की समस्त विकृतियों में जीने के लिए अभिशप्त राजकमल की भाषा नितान्त अमानवीय सूत्रों से संचालित होती है। न केवल यह कि उसके लिए चिड़ियाँ, हरिन, फूल, झरने, नदी, पहाड़ी स्त्रियाँ, कच्ची सड़कें और गाँव नहीं रह गये हैं (यानी वह सब कुछ नहीं रह गया है जिससे वह काव्यात्मक जैसी संवेदना हासिल कर सकता था) बल्कि यह भी कि वह तात्कालिक यथार्थ का ऐसा अतिक्रमण करने में असमर्थ है, जिसके बाद ही अकाव्यात्मक वस्तुओं की काव्यात्मक संवेदना को उपलब्ध करना सम्भव होता है (यानी उन्हें अपनी दुनिया में शरीक कर आत्म-संघर्ष को बृहत्तर संघर्ष का रूप या अर्थ देना सम्भव होता है)।

'मुक्तिप्रसंग' : यह एक कविता ही क्यों, राजकमल की ज्यादातर कविताएँ उसे एक अनिर्णय की स्थिति में दिखाती हैं। अनिर्णय के ही चलते उसकी दुनिया में सहज स्थितियाँ भी पेचीदा बन कर आती हैं। जब वह कहता है :

> 'वैज्ञानिक राजनेता और स्त्री-अंगों के व्यापारी-कुल तीन ही प्रभु-
> जातियाँ रह गयी हैं'

तो वह मुख्य प्रहार के लक्ष्य को कुछ धुंधला कर देता है—उसे, जो एक, और अकेली प्रभुजाति है—दुनिया की सारी कुटिलताएँ, सारी जाल-नीतियाँ ही जिसके अधीन हैं। इसी तरह आक्रामक-बिम्बों की कमी उसकी कविता में नहीं, पर उसका 'विद्रोह प्रायः इतना बिखरा हुआ लगता है कि आसानी से उस पर दिशाहीनता का आ... किया जा सकता है और कभी-कभी तो उसके 'होने' में भी सन्देह हो सकता है। अनिश्चयता राजकमल की ओर से की हुई कोई साजिश नहीं है, ज्यादा सही अर्थ... उसकी, और उसकी कविता की या समूचे लेखन की नियति है। मानसिक रूप से तो वह हर प्रकार की साजिश के विरुद्ध है। प्रसंग ८ के अन्त में वह लिखता है :

> आदमी को इस लोकतन्त्री संसार अलग हो जाना चाहिए
> चले जाना चाहिए कस्बाओं गांजाखोर साधुओं
> भिखमंगों अफीमची रंडियों की काली और अन्धी दुनिया में मसानों में
> अधजली लाशें नोच कर
> खाते रहना श्रेयस्कर है जीवित पड़ोसियों को खा जाने से
> हम लोगों को अब शामिल नहीं रहना है
> इस धरती से आदमी को हमेशा के लिए खत्म कर देने की
> साजिश में।..........'

तो इस सवाल की व्याप्ति समझकर—कि कविता उसके लिए क्या है और क्या नहीं है और यह मानकर कि कविता के मूल्य उसके लिए जीवन के मूल्यों से अलग नहीं हैं। पर कहीं उसकी विद्रोह चिन्ता में कोई गहरी कमी है कि वह बस साजिश में 'शामिल न होना' ही काफ़ी समझता है, जबकि एक प्रतिश्रुति-धर्मी कवि से आशा की जाती है, उसके विरोध में 'एक सार्थक शब्द' रखने की, दूसरे शब्द में 'अपना पक्ष' लेने की। न सिर्फ मुक्तिबोध, बल्कि केदारनाथ सिंह, धूमिल, और कमलेश आदि की कविताओं में कविकर्म की यही सार्थकता दिखाई देती है, राजकमल भी कुछ कविताओं में इन्हीं कवियों की भाषा के निकट आना चाहता है, पर इसके लिए अपने स्वभाव को उसने पूरी तरह ढाला नहीं है।

राजकमल की कविता में कोई अवसरवाद नहीं है—पर एक उतावली या बेचैनी जरूरी है कि इस क्रूर कुटिल विकृति दुनिया का सामना करने में वह कहाँ तक उसके साथ हो लेती है। इसके लिए हर बार वह नये नये जोखम उठाता है। कभी कभी इसका कोई नतीजा नहीं निकलता—ज्यादा से ज्यादा उसके कवि-मानस में कोई नया पेंच पैदा हो जाता है। मुक्तिप्रसंग में यह सब बड़े पैमाने पर हुआ है। जाहिर है कि यहाँ उस संश्लिष्टता की कमी है जो अर्थ को निश्चित परिणामों तक ले जाती है। न राजकमल ने इसके लिए कोशिश की है, न वह इसमें विश्वास करता है।

सब मिलाकर 'मुक्तिप्रसंग' आत्म-स्वीकृतियों की कविता है। दूसरे शब्दों में 'आत्म-स्वीकृतियों भरा एक लम्बा वक्तव्य है—उन तमाम 'कुटिल चालों को पहचानने की कोशिश है, जो सहज आन... में बाधक है। ● ●

मुक्तिप्रसंग : एक सही माध्यम की तलाश

शिवकुटीलाल वर्मा

'सती-वर्तमान के अग्नि-जर्जर शव को अपने कंधों पर मैं शिव की तरह धारण करता हूँ। मैं इस शव के गर्भ में हूँ और यह शव मेरे कंधों पर है। इसकी विकृति, वीभत्सता और दुर्गन्धियों में मुझे जीवित रहना पड़ेगा। जीवित ही नहीं, मुक्त और स्वाधीन भी रहना होगा........'

पुस्तक के प्रारम्भ में ही राजकमल चौधरी के संक्षिप्त वक्तव्य की ये पंक्तियाँ पाठक का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती हैं, और इन पंक्तियों के संदर्भ में ही सारी कविता को देखना चाहिये। जहाँ हम कवि की रचनात्मक-संवेदना पर अपनी 'शाश्वत सैद्धान्तिक दृष्टि' थोपने लगते हैं या स्वयं को उसकी सौंदर्य-चेतना से परिचित कराने का कष्ट न कर, उसी को अपने अनुसार बिठाने या ढालने के लिये प्रयत्नशील हो जाते हैं, वहीं, सारी गलतफ़हमियाँ उपजती हैं। मैं समझता हूँ कि जिन संदर्भों में रचना ने जन्म लिया है, उन्हीं के भीतर से हमें उसे देखना चाहिए। वह रचना बन सकी है या नहीं ? मस्तिष्क के कितने धरातलों को वह एक साथ स्पर्श करती है और उन्हें एक स्वस्थ चिंतन के लिये प्रेरित करती है, यह कसौटी ही रचना के परीक्षण के लिये पर्याप्त है। 'स्वस्थ' शब्द एक अमूर्त पद (Abstract Term) लग सकता है। जिन परिस्थितियों में आज का व्यक्ति जी रहा है, उनके संबंध में उनके प्रति अनासक्त होकर विचार करने की विधा को मैं स्वस्थ चिंतन की दिशा मानता हूँ। संवेदन १. [illegible] र जहाँ हम उनका उपभोग करते

हैं, रचना के स्तर पर वहीं हम उन्हें देखने भी लगते हैं, और यह देखने की दूरी ही हमें भीतर ही भीतर उनके प्रति अनासक्त भी बनाती जाती है।

इस दृष्टि से क्या 'मुक्तिप्रसंग' को मात्र एक कुंठित [illegible] व्यक्ति की उपज मान कर डाला जा सकता है ? क्या वह केवल एक बीमार मनोदिशा का चित्रण है ? क्या उसमें सीमाओं की विवश स्वीकृति-मात्र है ? जो शक्तियाँ मनुष्य के विवेक को झुकाने में जी-जान से उतारू हैं या उसकी उद्दाम जीवन-चेतना को समाप्त करने के लिये कटिबद्ध हैं, उनके साथ ही उसमें कहीं कोई चेतावनी का स्वर भी नहीं उभरता ? और यदि वह है, तो उसे केवल प्रलाप या निरर्थक आक्रोश कह कर कैसे नजरअन्दाज किया जा सकता है ? अस्तित्व की समाप्ति के खतरे और उनके प्रति भय की अनुभूति और उसके अनुपात में उसकी रक्षा के प्रति चिंता जितनी आज के युग में एक सजग और आधुनिक व्यक्ति में व्याप्त है, उतनी पहले कभी नहीं थी। अस्तित्व की अर्थता की अनुभूति के बावजूद भी आज का व्यक्ति उसे खोना नहीं चाहता। वस्तुतः अस्तित्व और व्यक्तित्व कहीं एक दूसरे के पर्यायवाची बन गये हैं। अस्तित्व की सम्भावना के बावजूद ही, व्यक्तित्व की अपनी कोई समस्या हो सकती है और इन समस्याओं से लड़ते हुए, व्यक्तित्व को या रचनात्मक धरातल पर इस प्रकार की अनुभूतियों की अवतारणा को कुण्ठित कह देना, कुण्ठा शब्द का सरलीकरण करना है। ऐसे लोग या तो कुण्ठा शब्द के मनोवैज्ञानिक अर्थ से अपरिचित हैं, या उसे एक मूल्य मानकर चलते हैं। यों समाज में परिव्याप्त एक कुण्ठा की अभिव्यक्ति और अपनी निजता की कुण्ठित अभिव्यक्ति, इन दोनों में फ़र्क है। इस सम्बन्ध में मुझे राजकमल चौधरी का एक लेख याद आ रहा है, जहाँ उन्होंने कहा है :

'सम्भवतः खण्डित अहं के अलग-अलग टुकड़ों पर जम आई हुई कीचड़-काई ही कुण्ठा बनती है, जो अन्दर के साबुत पत्थर, यानी आदमी के अस्तित्व, अंतरंग अस्तित्व को चमकने-निखरने नहीं देती है। जो आदमी को किसी लालसा, किसी देह-अंग, किसी भंगिमा, किसी नंगेपन, किसी भोग, किसी मृत और अतीत शारीरिक सम्भावना में हमेशा के लिए, जब आदमी अपनी कुण्ठा से अधिक मजबूत हुआ, तो कुछ अर्से के लिऐ रोक देती है।'

('नवलेखन के सन्दर्भ में' : राजकमल चौधरी, 'लहर', मई-जून १९६७)

कुण्ठा के प्रति कवि का यह दृष्टिकोण ही कवि के मानसिक तनावों को कृत्रिम होने से बचाता है। मृत्यु के साक्षात्कार और सहज स्वीकृति ने उसकी दृष्टि को धुंधली करने के बजाय उसे एक [illegible] दी है। वह विघटनकारी

क्तियों द्वारा उत्पन्न 'क्राइसिस' के साथ सीधा साक्षात्कार करता है, और उनके षड्यन्त्रों का पर्दाफाश करने में न तो वह (अपनी संवेदनाओं के आरोपण के लिए) प्रकृति का सहारा लेता है, और न ही आध्यात्मिक प्रतीकों का। इसकी भाषा तेज और स्पष्ट है, और खोखली गरिमा से परे है। वस्तु-स्थिति के मुखौटों और चमकते आवरण को हटाकर उसे देखने और दूसरों को दिखा पाने की कवि की छटपटाहट 'जेनुइन' है और यही कारण है कि 'मुक्तिप्रसंग' का भय, संत्रास, व्यंग्य-विपर्यय, तथा 'सर्फरिंग' और 'हिपोक्रिसी' पर किये जाने वाले प्रहार फैशन जैसे लग कर एक आन्तरिक आवश्यकता से उद्भुत कवि की रचनात्मक प्रक्रिया के अनिवार्य परिणाम ... लगते हैं।

'उग्रतारा', जिसकी 'इमेज' कविता में कई बार आई है, के बारे में कवि का मत है : 'मुक्तिप्रसंग' कविता के केन्द्र में उग्रतारा की मूर्ति (Image) है, और इस 'इमेज' की समस्त आंगिकताओं को ग्रहण करके ही यह कविता ग्रहण की जा सकती है।'

('दर्पण', सितम्बर १९६७ : 'शंभुनाथ मिश्र को लिखे गये पत्र से')

जहाँ तक मैं इस 'इमेज' को बूझ पाया हूँ, 'उग्रतारा' उस सहज सौन्दर्य और स्वाभाविकता का प्रतीक है, जहाँ से हम अपनी सभ्यता-यात्रा में इतनी दूर निकल आये हैं कि व्यक्ति का अहं उसके निजी स्वार्थों का पर्याय बनकर रह गया है। अपने ईमानदार क्षणों में यह महसूस करने के बावजूद भी कि वह भीतर से चुक गया है और उसके सारे कार्यकलाप और समां बांधने वाली बातें केवल आत्म-प्रवंचना हैं और उसकी ज़िन्दगी एक भद्दी गाली से ज्यादा कुछ नहीं। फिर भी वह कहीं इतना चतुर भी हो चुका है कि अपने नकली और सड़े हुए व्यक्तित्व को असली और युग-सापेक्ष सिद्ध करने और उसे दूसरों के ऊपर लादने या दूसरों के कन्धों पर खड़े होकर अपने आपको ऊंचा दिखाने तथा दूसरों को बौना सिद्ध करने में वह अनवरत-रूप से प्रयत्नशील है। यद्यपि वह इस बात से डरता भी है कि भीड़ का उसके साथ यह 'श्रद्धा-संबंध' कहीं समाप्त न हो जाए। यों भीड़ के साथ इस प्रकार का सम्बन्ध, या समझौते (Adjustment) पर आधारित ऐक्य सम्बन्ध, और अपने भीतर के किन्हीं अहसासों और बुनियादी सवालों की बिना पर स्वयं को उससे कटा हुआ या अकेला महसूस करना, दो अलग बातें हैं। पर यह अलगाव का अहसास और बुनियादी समस्याएँ, वे चाहे जो भी हों, व्यक्ति को अपने ढंग से सोचने और उस 'अपने ढंग' का अन्वेषण करने के लिये विवश ही करती हैं, उसे अपना आत्मपरकता (Subjectivity) के प्रति समर्पित होने के लिए प्रेरित नहीं करतीं। 'मुक्तिप्रसंग' का कवि भी भीड़ से विच्छिन्न और असम्पृक्त रह कर भी एक गहरी सामाजिकता की अनुभूति के कारण उससे अपने को मुक्त नहीं अनुभव कर पाता, क्योंकि भीड़ की अपनी समस्याएँ हैं, और वे सारी समस्याएँ सिमट कर अस्तित्व की समस्या में, किसी हद तक भोजन और किसी भी प्रकार जीवन-यापन कर पाने की विवशता में केन्द्रित हो गई हैं। कवि का यह अनुभव-तादात्म्य इतना गाढ़ा हो उठता है कि उसका मनुष्य देश की मध्यवर्गीय भूखी पीड़ित जनता का प्रतीक बन जाता है :

> 'मेरे देश और मेरे मनुष्य का भविष्य निर्धारित करने के लिए अ...
> निर्धारित करने के लिए
> मैं इतिहास-पुस्तक की तरह खुला हुआ पड़ा हूँ
> लेकिन मेरा देश मेरा पेट मेरा ब्लाडर मेरी अंतड़ियाँ खुलने से पहले
> सर्जनों को यह जान लेना होगा
>
> हर जगह नहीं है जल अथवा रक्त अथवा मांस
> अथवा मिट्टी
>
> केवल हवा, कीड़े जख्म और गन्दे पनाले हैं अधिक स्थानों पर इस देश में
> जहाँ सड़ कर फट गई हैं नसें वहाँ हवा तक नहीं
> ऊपर की त्वचा चीरने पर आग नहीं निकलेगी नहीं धुआँ
> जठराग्नि..........दावानल..........
> सब बुझ गये अचानक पहले पन्द्रह अगस्त की पहली रात के बाद
> अब राख ही राख बच गया है पीला मवाद'

'मुक्तिप्रसंग' में देह की राजनीति से लेकर (जिसका प्रतिनिधित्व मंजू हालदार करती है) मानसिक राजनीति (जिसका प्रतिनिधित्व समाचार-पत्रों और सुलह और सद्भावना के नाम पर चलने वाले और एक झूठे प्रचार का वातावरण तैयार करने वाले राजनैतिक सम्मेलनों द्वारा होता है) और नैतिक मूल्यों तक की राजनीति (जिसका प्रतिनिधित्व 'नकली नकाबपोश ईश्वर' करता है) की चर्चा है। अवसरवादिता की राजनीति से क्रमशः देश में व्याप्त भ्रष्टाचार और अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर चलने वाली दलबन्दी को तीखे रंगों द्वारा अंकित किया गया है। जहाँ वह पूंजीवादी शिकंजे में जकड़ी हुई लोकतांत्रिक पद्धतियों पर व्यंग्य करता है, वहीं मानवता को अणुबम की ओर ले जाने वाले वैज्ञानिकों और जीवन को यान्त्रिक बना देने वाली संस्कृति पर भी। वह आधुनिकता के कृत्रिम मापदण्डों, भीतर ही भीतर मनुष्य को

समाप्त कर देने की साजिश और स्त्री-अंगों का व्यापार करने वालों से घृणा करता है और मनुष्य के प्राकृतिक और मौलिक रूप के पुनरान्वेषण के लिए 'चिड़ियाँ, हिरन, पू.., झरने, कच्ची सड़कें और गाँव की ओर संकेत ही नहीं करता, बल्कि आज की समस्याओं का समाधान भी उन्हीं के भीतर खोजता है। जहाँ तक मनुष्य की स्वभावगत जटिलता की 'केयासिस' का प्रश्न है, प्रकृति उसमें एक सीमा तक सहायक भले ही सिद्ध हो जाय, पर उस जटिलता से व्युत्पन्न विषय समस्याओं के निदान रूप में उसे देखना समस्याओं से मुँह मोड़ना है। अपनी संचेतना के उत्कर्ष रूप में बौद्धिक के तमाम सोपानों से गुजरता हुआ मनुष्य कमजोरों पर शासन की आदिम वासना और अपने विचारों की श्रेष्ठता को दूसरों पर स्थापित करने की लालसा से आज भी मुक्त नहीं हो पाया है और धर्म या वाद की आड़ में इसी मनोवृत्ति ने उसे कहीं व्यक्ति-स्वातंत्र्य के अपहरण और कहीं साम्राज्यवाद के लिए उकसाया है और मेरे अनुसार इसका हल प्रकृति का मुँह निहारने या इस प्रकार की : 'जीवित पड़ोसियों को खाने की साजिश से' किनाराकशी करना मात्र नहीं, बल्कि उसके विरुद्ध एक सशक्त मोर्चा तैयार करना है। 'मुक्तिप्रसंग' की केन्द्रीय दृष्टि अपने परिवेश के प्रति जागरूक एक व्यक्ति की दृष्टि है और इसीलिए हमें उसमें वैयक्तिक पीड़ा, खीझ और उस पराजय की कटुता भी मिलती है, जिसका कारण है देश के विगलित शासन-तंत्र और नौकरशाही संस्कृति को बदल पाने की उसकी असमर्थता। इतना ही नहीं, कविता में उस तंत्र साधना की भी स्पष्ट छाप है, जिससे कवि का व्यक्तित्व प्रभावित है, पर ऐसा नहीं लगता कि ऐसे स्थल कहीं भी कविता को सम्पन्न बनाने या उसके व्यंग्य को सार्थकता प्रदान करते हों। यों कविता का मूल स्वर व्यंग्य और आक्रोश होते हुए भी उसमें वह Pathos भी है, जो उनके भीतर से झलझला उठता है।

'मुक्तिप्रसंग' में कोई प्रलक्ष नियोजन नहीं है। सम्पूर्ण कविता चेतना के उस धरातल से निसृत होती हुई जान पड़ती है, जहाँ अनुभवों का ढेर और अनुभूतियों का आवेग तो है (और जहाँ कविता खुद ही अपनी बात कह जाती है, कवि को इसके लिए ऊपर से प्रयत्न नहीं करना पड़ता) पर साथ ही कवि का उन पर वह अनुशासन (Control) भी नहीं है, जो रचना को इतना संयत बना देता है कि वह 'मास्टरपीस' की संज्ञा पा सके। उसके अनुभव प्रामाणिक और उनका परिप्रेक्ष्य विस्तृत होते हुए भी वे अधपके हैं। कई बार ऐसा लगता है कि जैसे बात बीच-बीच में टूट जाती है और इस सब के लिए उत्तरदायी ब[illegible] रचनाकार का वह अधैर्य है (यद्यपि वह अधैर्य अब इस दृष्टि से सर्वथा उचित कहा जाना चाहिए, क्योंकि इसके अभाव में हम 'मुक्तिप्रसंग' जैसी कृति शायद न पा सकते।) जिसके कारण अपनी बात कहने के लिए वह और अधिक प्रतीक्षा सहन नहीं कर सका। (यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि 'कोई प्रतिमा गढ़ने योग्य नहीं हुए मेरे अनुभव' जैसी ईमानदार आत्म-स्वीकृति से कवि का संकेत उनके रचनागत संगठन की अपरिपक्वता की ओर नहीं, वरन् उनकी नकारात्मकता (Negative aspect) में निहित उस व्यर्थता की ओर है, जिसने उसे रचनात्मक मूल्यों के प्रति अनास्थावादी बना दिया है। इतने सारे अनुभवों की अभिव्यक्ति के लिए उसे एक सही माध्यम की तलाश थी और 'मुक्तिप्रसंग' का महत्व उस सही माध्यम के एक सोपान के रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए। वस्तुतः वह उपलब्धियों से अधिक सम्भावनाओं की कविता है।

कविता के शिल्प की दृष्टि से 'मुक्तिप्रसंग' का अनुभव-सम्प्रेषण अधिक 'डाइरेक्ट' है। उसके प्रतीक और बिम्ब नये जरूर हैं, पर वे कविता को दुरूह नहीं बनाते। जहाँ 'नया कवि' प्रकृति के उपादान और बाहर की वास्तविकता को अपने अन्तर्जगत के और रचना प्रक्रिया के उद्घाटन के लिए माध्यम रूप में चुनता है, वहीं 'मुक्तिप्रसंग' का कवि अपने आन्तरिक व्यक्तित्व को वस्तु-सत्य में मिलाकर स्थितियों को देखने का प्रयास करता है। उसका कथन अनावश्यक प्रतीकों और बिम्बों का सहारा न लेते हुए भी सपाट नहीं है, बल्कि उसकी वस्तुओं (Object) की ठीक-ठीक पहचान करती हुई दृष्टि इसके अर्थ-सन्दर्भों को विस्तार देती चलती है। स्थितियों को उनके मूल और नंगे रूप में देखने की यह प्रवृत्ति उसे 'नये कवि' से अलग करती और साठोत्तरी पीढ़ी के नजदीक लाती है। (वैसे मैं नयी कविता की परम्परा को 'मुक्तिप्रसंग में इस रूप में विद्यमान मानता हूँ कि नयी कविता की सीढ़ी के बिना उसके आगे की दृष्टि का विकास या यह मोड़ शायद इतनी आसानी से सम्भव न हो पाता।) हालाँकि सन् साठ के बाद की पीढ़ी ने जहाँ अपनी भाषा और दृष्टि संरचना में पिछली पीढ़ी के अनुभव-ठहरावों औ भाषागत-घिरावों को कहीं से तोड़ने की कोशिश की है, वहीं भूखी, पराजित या विद्रोही पीढ़ी के नाम पर वह स्वयं एक दूसरे प्रकार की घिरावट में बंधती भी गई है और यहीं पर राजकमल 'मुक्तिप्रसंग' के रचना-सन्दर्भ में साठोत्तरी पीढ़ी के अन्य कवियों में कहीं अलग और ऊपर दिखने लगते हैं।

'मुक्तिप्रसंग' का कवि

घनश्याम शलभ

•

मुक्ति-प्रसंग की कविता एक स्वप्न-यात्रा की कहानी कहती है, जो स्मृत्य और सामयिक जीवन-प्रसंगों, विविध परिस्थितियों और पात्रों के सांकेतिक और सजग सन्दर्भों को व्यक्त करती चलती है। मृत्यु-चेतना और उसकी स्वीकृति तथा उसके साथ ही अपने अहं के विलयन के भाव इस कविता में विद्यमान हैं। कवि की मर्मभेदी दृष्टि ने यथार्थ की ऊपरी परत को तार-तार कर दिया, उसके मर्म स्पन्दनों को बड़ी सच्चाई और सार्थकता से प्रस्तुत किया है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। यह बात अलहदा है कि उसकी काव्य-दृष्टि इतनी सजग, सशक्त और विद्रोहमयी होने के बावजूद भी एक निष्क्रिय-दर्शन बनकर रह जाती है। उसके काव्य-बिम्ब सिद्ध-साहित्य की सी प्रतीति लेकर प्रस्तुत हुए हैं, हालाँकि उनके सन्दर्भ बिल्कुल नये और आज के हैं। एक सिद्ध कापालिक की सी मस्तचेतना, निरपेक्ष होते हुए भी अपनी रागवत्ता में महत्वपूर्ण हो उठी है। कवि स्वयं इस बात को मुक्तिप्रसंग के आमुख-लेखन में स्वीकारता है कि 'मैंने अनुभव किया है : स्वयं को और अपने अहं को मुक्त किया जा सकता है।·······इस अनुभव के साथ ही, दो समानधर्मा शब्द-जिजीविषा और मुमुक्षा-इस कविता के मूलगत कारण हैं।·······सती-वर्तमान के अग्निजर्जर शव को अपने कन्धों पर मैं शिव की तरह धारण करता हूँ। मैं इस शिव के गर्भ में हूँ, और यह शव मेरे कन्धों पर है। इसकी विकृति, वीभत्सता और दुर्गन्धियों में मुझे जीवित रहना ही पड़ेगा। जीवित ही नहीं, मुक्त और स्वाधीन भी रहना होगा।·······यही मनःस्थिति इस कविता का प्रसंग है।·······'

पर, 'जीवित ही नहीं, मुक्त और स्वाधीन भी' रहने वाली यह अनुभूति प्रसंग आठ के अन्त में जब यह व्यक्त करती है कि·······'आदमी को इस लोकतन्त्री संसार से अलग हो जाना चहिए' आदि तो उसकी जीवन-दृष्टि की 'नकारात्मक पकड़' स्वतः स्पष्ट हो जाती है। इस लम्बी कविता के सारे अन्तर्मंथन और हहराती अकुलाहट के विद्रोहसत्व की यह परिणति ग्रीनविच विलेज के बीटनीक की मनःस्थिति को ही अधिक व्यक्त करती है। घोर निराशा और सघन पीड़ा से पराभूत यह मनस्तात्विक दर्शन घनवादी चित्रशैली के बिम्बों को प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त करते हुए भी जीवन के अधिकारपूर्ण कटु अनुभव के वातावरण को ही प्रस्तुत करता है। मुक्ति के विषय में सोचता हुआ जब-'मैं' बेहोश हो सो जाता है, तो उसे लगता है कि 'शरीर से
बाहर निकल कर ही मुक्ति के विषय में
निर्णय किया जा सकता है'
कवि की घायल चेतना अपने इस 'दशमुख विध्वंस के लिए अपनी आंतरिक कृतज्ञता ज्ञापन के साथ उसे धन्यवाद देना चाहती है। देखिये कैसा मर्मस्पर्शी अनुभव-खण्ड है यह :

> 'सड़ी हुई आँखों का मवाद ईथर की गन्ध किडनी में
> कैन्सर के रक्तश्वेत पुष्प
> चौराहे पर मरा हुआ रक्तश्लथ कुण्डलिनी का काल-सर्प खण्ड-खण्ड
> खण्डित ध्वजा-दण्ड खण्डित मूर्तियाँ
> अस्थि-सीमाओं की लक्ष्मण-रेखाएं नहीं रहीं दृष्टिदोष
> मृत हुए
> मेरे दशाश्वमेघ के, सभी अश्व नौकाएं डूब गयीं गंगाजल में'

ऑपरेशन-टेबुल पर ईथर-निद्रा में अनेकानेक भाव-स्फुलिंग कभी उसे 'सम्भोग की चरम परिणति में स्वाभाविक सुविधाप्रद होगा मेरा मरण' की प्रतीति देती हैं तो कभी 'कोई काव्य-'खण्ड या प्रतिमा बनाने योग्य नहीं थे अनुभव-संगीत रंग, पीड़ाएं मेरे अन्तराल में—रोगदग्ध परिस्थितियाँ' उसे उसकी 'अतीन्द्रिय चेतना की अन्तहीन यात्रा-प्रक्रिया से पलायित कर देते हैं।
उसका अवचेतन और अस्तित्व इतिहास-पुस्तक की भाँति ऑपरेशन टेबुल पर रोशनी के प्रज्वलित गोलाम्बर में खुले पड़े हैं। विचारों की आवेगमयी बाढ़ उसकी चेतना को भर देती है, और वह फिर विचार-शून्य की सी मनोदशा को ग्रहण करता है। स्त्रियों, नदियों, बीमारियों, भूखजन्य अपराधों, ईश्वर, मृत्यु, दास्तोवस्की, हिरोशिमा, विधान सभाओं, आदि बातों के साथ-आदमी क्यों प्यार करता है, युद्ध क्यों क[illegible] परिवार नियोजन क्यों, बर्लिन की

दीवार, देशप्रेम, अफीम की गोलियाँ, चैप्लिन की फिल्में, ताशकन्द सम्मेलन, रीढ़ की हड्डी में गैंग्रीन, मादाम नू, दास कैपिटल, सुकरात, गार्गातुआ की कहानियाँ कश्मीर के लिए सेनाएँ, अजन्ता, सेगांव में जल मरती बौद्ध भिक्षुणियाँ आदि भी उसकी चेतना को झकझोर देती हैं।
वह सोचता है क्यों एक ही युद्ध मेरी कमर की हड्डियों में और कभी वियतनाम में होता है, क्यों इन्दिरा गांधी क्यों तुम वह, मैं क्यों कुछ नहीं, कुछ नहीं।' उसकी पराजय के तीस वर्ष, केलैंडरों में सोये हुए बच्चे, हिरन, फूल, चिड़ियाँ, झरने, पहाड़, गाँव, औरतें, चाय के बगान, बचपन का प्यारा अलबम जिसमें '[illegible] छोटी माँ का हाथ थामे हुए चकित मैं हरसिंगार के नीचे खड़ा हूँ' आदि चेतना-स्रोत अबाध गति से बहता रहता है।

जटिल हुए किन्तु कोई भी प्रतिमा बनाने योग्य नहीं हुए उसके अनुभव
नहीं निद्राएँ और नहीं पैशाची सम्भोग
यातनाएँ भी नहीं····में उसकी पीड़ादायक मनःस्थिति चरमसीमा पर है।

उसकी अन्तश्चेतना के स्रोत में बहते हुए ढेरों भाव-खण्ड इस कविता की विशिष्ट उपलब्धि हैं। नकाबपोश नकली ईश्वर, वियतनाम, उड़ी-पुंछ, यू० एन० ओ०; तिब्बत, बस्तर, अफ्रीका में राइफल के निशाने के साथ आगे बढ़ना, उसी नकली ईश्वर द्वारा नागालैंड, कोरिया, क्यूबा, पाकिस्तान, वियतनाम व अल्जीरिया में विदेशी बम भेजना, कभी अपनी संस्कृति, मशीनें, टैंक, जहाज, हथियार-कभी उड़ीसा में दुर्भिक्ष, कभी काहिरा में शक्ति-सम्मेलन, युद्ध, अणु-आयुध आदि चित्र उसकी अन्तश्चेतना पर जैसे निरन्तर हथौड़े मारते हैं।
उसकी आहत चेतना कितने स्वाभाविक रूप से अनुभव करती है कि

'वैज्ञानिक, राजनेता और स्त्री अंगों के व्यापारी
कुल तीन ही प्रभु-जातियाँ रह गई हैं अब स्वयंभू अस्तु
में क्रीतदास हूँ

और कि चिड़ियाँ, हिरन, फूल, झरने, नदी, पहाड़, स्त्रियाँ, कच्ची सड़कें और गाँव मेरे लिए नहीं रह गये हैं-रह गये हैं अपने शरीर के क्षत-विक्षत मांसपिण्ड। करुण विवशता का मर्मान्तिक विद्रोह इस अभिव्यक्ति के अन्तराल में झाँक रहा है, हालाँकि ग्रीक-कृतियों में सन्निहित महानता और उच्चता के दर्शन यहाँ विरल ही हैं। अस्तित्ववादी कृतिकार की यह धारणा कि मनुष्य अपनी सामाजिक दुनिया स्वयं बनाता है और वह अपने को ऐसी परिस्थितियों में घिरा हुआ पाता है, जिन पर उसका कोई वश नहीं-यह सब मुक्ति-प्रसंग कविता में भी द्रष्टव्य है। हर रात [illegible] स्मारक के नीचे नंगी होती हुई पागल, काली, मरी हुई स्त्री जो उजाड़ आसमान में दोनों बाहें फैलाकर रोटी के लिए, रोते हुए सो जाने के लिए, पानी और अनाज के देवता से भीख माँगती है—तिरंगा फहराने के अपराध में मार डाले गये १९४२ के छात्रों के नाम पर! और जिसे बारह दफा राज्य-सचिवालय की आदमकद घड़ी चुप करती है, कुल एक मिनट बाद इस नाम पर कि पाँच लाख पच्चीस हजार छः सौ मिनिटों के निर्मम यन्त्र-चक्र में एक सौ बीस लाख पच्चीस हजार भारतवासी अनायास उत्पादित होते हैं।
और कवि यह निश्चय करता है कि :

'वह पागल काली मरी हुई आतंकित अनगढ़ स्त्री चिपकाऊँगा
अपने होठों में उसके होठों में अपने शब्द
वाक्य भाषाएँ
अपने मुहावरों से उसकी बंजर धरती को नहलाऊँगा

कविता लोकतन्त्र दोनों के लिए सुविधाजनक-स्वास्थ्यदायक यही होगा, उसकी कल्पना की यह दीप्ति अत्यन्त ही प्रभावोत्पादक है कि 'देह की राजनीति से विकट सन्निकट और कोई राजनीति नहीं है संजय अन्न और अफीम की राजनीति यहीं शुरू होती है, जन्म लेता है यहीं मृग-मारीच और :

'यह प्रश्न ही है हमारा वर्तमान
केवल वर्तमान में जीते हैं अब समस्त प्रजाजन
मर जाते हैं अतीत में और भविष्य में मर जाते हैं।

और 'सिचुएशंस' के कृतिकार की तरह वह महसूस करता है : 'किन्तु भीड़ से विच्छिन्न असम्पृक्त रहकर भीड़ से मुक्त मैं नहीं हो पाता हूँ' जीवन में अवमूल्यन और मूल्य मूढ़ता—दोनों ही पर कवि ने व्यंग्यात्मक दृष्टिनिक्षेप किया है। भारतीय रुपये के अवमूल्यन के साथ भारतीय संस्कृति और सुन्दरता अमरीका-यूरोप में मूल्य वृद्धि कैसे करती जा रही हैं, कैसे बलवंत गार्गी जैसे लेखक ग्राम के पंजाबी पेड़ न्यूयार्क में लगा आते हैं और किस भाँति बीटल्स-लड़के लगातार रविशंकरी सितार बजाते हैं, और किस तरह हिन्दुस्तानी रुपये पर जवाहरलाल नेहरू की तस्वीर छपी हुई है, जिसकी कुल ३६.५ प्रतिशत कीमत नीचे गिरी है, और कैसे हमें देशी सिंडीकेट और विदेशी बैंक का धन्यवाद करना चाहिए, और कैसे सोलन के तीसरे पाइण्ट में अपने गाँव की बातें शुरू करते हैं फणीश्वरनाथ रेणु-कमली·······ताजमनी·······नैनाजोगिन ● ●

नया सृष्टि संकल्प एक आदिम संस्कार

विजयबहादुरसिंह

'सारिका' के अप्रैल-मई '६७ महीने वाले अंक में डा० धर्मवीर भारती ने राजकमल को पश्चिमी युवा-लेखन अमरीका के बीटनिकों के सन्दर्भ में स्मरण किया है। उनके अनुसार देह की राजनीति ही इस कवि का असली प्रातव्य है और इसीलिए यह असामाजिक है। यदि राजकमल के 'मुक्तिप्रसंग' का यही आशय हो, तब तो भारतीजी का विरोध सचमुच नैतिक दायित्व से सम्पन्न है, किन्तु मैं समझता हूँ राजकमल ने कभी इस आशय की कल्पना भी न की होगी। राजकमल 'देह की राजनीति' के न तो प्रवर्त्तक हैं और न उसके समर्थक ही, अपितु वे इसके विरोधी थे। हाँ, स्थिति का साक्षात्कार ही यदि किसी की स्वीकृति मान ली जाय तो राजकमल का क्या दोष ?

'देह की राजनीति' कोई व्यक्तिगत समस्या नहीं है और उसका संबंध राजकमल के व्यक्ति से था भी नहीं। इसके विपरीत यह एक प्रच्छन्न सर्व-स्वीकृत तथ्य है, जिसे राजकमल ने नितांत परिचित माध्यमों के सहारे उद्घाटित किया। वे इसके लिए निन्दनीय हो सकते हैं कि उन्होंने एक अप्रकृत किन्तु, घातक समाज-रोग को सबके सामने नंगा कर दिया। यद्यपि वे इससे कहीं अलग नहीं थे। उनका व्यक्तित्व भी इस समाज-रोग से घिरा हुआ था और वे तब तक मुक्तता का अनुभव कर भी नहीं सकते थे, जब तक कि सारा समाज इससे मुक्त न हो जाय। वास्तविकता तो यह है कि आज का कोई कवि या लेखक किसी भी स्थिति या घटना से असम्पृक्त नहीं हो सकता। उसकी संलग्नता और संमक्ति इतनी प्रबल है कि कहीं-कहीं उसकी कलात्मक तटस्थता भी

खतरे में पड़ जाती है। मुक्तिबोध जैसे बुद्धिवादी कवि भी यह स्वीकार करते हैं :

मैं देखता क्या हूँ कि—
पृथ्वी के प्रसारों पर
जहाँ भी स्नेह या संगर
वहाँ पर एक मेरी छटपटाहट है
वहाँ है जोर गहरा एक मेरा भी
धरती के विकासी द्वन्द्व-क्रम में एक मेरा छटपटाता वक्ष,
स्नेहाश्लेष या संगर कहीं भी हो
कि धरती के विकासी द्वन्द्व-क्रम में एक मेरा पक्ष
मेरा पक्ष, निःसन्देह !

राजकमल ऐसी स्थिति में अलग कैसे रह सकते हैं ? कवि किसी दूसरे लोक का प्राणी नहीं है। उसका भी अपना घर, अपनी समस्याएँ और राग-द्वेष हैं। कवि होने से पहले वह सामाजिक है, एक प्रबुद्ध और सदय सामाजिक, जिसकी चेतना के छोर बहुत व्यापक हैं। इसीलिए सारा समाज उसकी कविता का प्रेरणा-स्रोत है और सारी कविता उसका अपना इतिहास। राजकमल की कविता को समझने के लिए हमें इसी रास्ते चलना होगा, क्योंकि राजकमल, उसकी कविता, उसका घर, उसके लोग, देश-काल कहीं अलग-अलग खण्डों में बंटे हुए नहीं हैं, बल्कि ये सारे इकाई के रूप में ही उसके सामने हैं। यही राजकमल के कवि का सबसे बड़ा अवदान है कि उसने सम्पूर्ण युग-जीवन की खण्डित होती हुई इकाईयों को फिर से जोड़ कर पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है। 'कंकावती' और 'मुक्तिप्रसंग' दोनों ही कृतियों में उसने इसीलिए वर्तमान भारतीय परिवेश को बहुत निजी ढंग से याद किया है। कंकावती में उसका स्वर यद्यपि बहुत गम्भीर और मन्थर है, पर उनकी स्मृति में न जाने कितने प्रसंग, कितनी घटनाएँ और कितने ही जीवन-धरातल उभरते चले आये हैं। कंकावती में राजकमल ने पूरे देश को आपरेशन थियेटर में लिटा दिया है, जब कि मुक्तिप्रसंग में वे स्वयं भी उसमें लेट गये हैं। कंकावती में बीमार लोग, कुण्ठा-ग्रस्त सामाजिकता और नग्न यौनाचार है। आदमी की गर्हित दशा, घृणित क्रियाएँ और पतन स्थिति है। वह अपनी समग्रता में देश के दुर्भाग्य का प्रमाण-पत्र है, जहाँ 'सरस्वती-वन्दना' भी भ्रष्ट हो चुकी है :

विलास-पद्म पर रुकी हुई शब्द
प्रिया रोती है। वीणा के क्षत-विक्षत
स्तन। हंस की सर्पाकृत ग्रीवा व्रण-दू

ण । अधरों पर आलेपित पैतृक प्र
णय-दंश ।...............

यही देह की राजनीति है, जिसे मेधावी समीक्षकों (?) ने पहले नहीं पहचाना और जब राजकमल ने उसे सबके सामने सही नाम से पुकारना शुरू किया, तब वे अपराधियों में गिने जाने लगे। ये ही समीक्षक किसी समय राजकमल से इसी दैहिक राजनीति वाले साहित्य का प्रचार अपने पत्रों में नहीं कराना चाहते थे और क्या उन्होंने ऐसा कराया नहीं? नरेश सक्सेना की डायरी की ये कुछ पंक्तियाँ ही इस सन्दर्भ में पर्याप्त होंगी : भले अनचाहे ही उनसे यह हुआ हो, लेकिन क्या भारती जी यह बात नहीं मानेंगे कि पहले उनके चित्र, कविताएँ, टिप्पणियाँ आदि 'धर्मयुग' में प्रकाशित कर उन्हें साधारण पाठक से लेकर विश्वविद्यालयों तक में चर्चित कराने और अब उनकी आलोचना करके उन्हें नई पीढ़ी के प्रतिनिधि के रूप में प्रतिष्ठित कराने के एक माध्यम भारती जी स्वयं ही रहे हैं। सम्पादक के नाते जो दायित्व-निर्वाह भारतीजी ने किया, उसे लेखक के नाते गलत सिद्ध करने वाला यह दोमुँहापन राजकमल को कभी स्वीकार नहीं था। राजकमल एक ऐसे युग का व्यक्ति था, जिसमें आदमी रंग नहीं बदलता, नाटक नहीं करता, आरोपित आदर्शवाद और आयातित यथार्थवाद की कसमें नहीं खाता। इसी कारण वह आजकल की कवि-परम्परा से अलग थे, भिन्न थे। कवि कर्म पर विचार करते हुए जब सारे लोग बौद्धिकता और भावुकता, अवमूल्यन की समस्याओं पर बात कर रहे थे, तब भी राजकमल ने विवादों के बीच अपनी आवाज़ को अलग रखा और इस रूप में कि :

वेश्याओं के ऊंचे पलंग हैं, या जली हुई
लकड़ियाँ। कहीं जगह खाली नहीं है गज
भर। जहाँ बैठकर लिखी जा सके गीता,
या गीताञ्जलि। ऊंचे पलंग हैं, या रसोई
घर की जली हुई लकड़ियाँ।

कवि की महत्वाकांक्षा प्रशंसनीय है। वह भी व्यास और रवीन्द्र की परम्परा को आगे ले जाना चाहता है। युग-व्यापी संदेश देना चाहता है, शाश्वत रचना का स्वप्न देखना चाहता है, पर यह सब जमीन पर। आस-पास के लोगों पर निर्भर करता है। यहाँ मैं कोई मार्क्सवादी व्याख्या नहीं कर रहा हूँ और न यही मानता हूँ कि कवि या कलाकार अपने युग की परिस्थितियों से ऊपर नहीं उठ सकता। पर मैं मानता हूँ कि राजकमल में न उस प्रकार की महानता है और न राजकमल स्वयं उस प्रकार की महानता के प्रत्याशी थे। राजकमल जिस महानता के लिए परेशान थे, वह अति सामान्य थी। उसे महानता भी क्यों कहा जाय, सच्चे अर्थों में तो वह साधारणता थी और यही साधारणता राजकमल के सबसे निकट रही है। इसलिए वे कुछ भी और नहीं हो सकते थे, सिवाय इसके कि वे जो कुछ थे, उन्हें वही रहने दिया जाय। वे वस्तुतः मानव-जाति के प्रकृत-स्वरूप के आकांक्षी थे। अपनी एक कविता में उन्होंने लिखा है :

सब लोग जिस तरह
मरे हुए अजगर के किस्से गढ़ते रहते
हैं, तुम नहीं कहो। सब लोग जिस त
रह हवा में उड़ते केंचुल के कल्पित दंश
सहा करते हैं, तुम नहीं सहो। लेकि
न इतने दिन बीते, अब तय कैसे कर
डालूं, कि ग्लोब पर टखने मोड़े, सिर
चिपकाए हुए, भूख के पागलपन में
जर्जर बाहें फैलाए लेटी हुई एक-
आदिम सच्चाई (जो तुम हो), तुम
नहीं रहो?

यह आदिम सच्चाई क्यों? आज जब कि विश्व-वैज्ञानिक अन्वेषणों के चरम उत्कर्ष पर पहुँच रहा है, आदिम सच्चाई की बात करना पिछड़ेपन का द्योतक नहीं है? वैज्ञानिक विकास की यही प्रतिक्रिया है और यह प्रतिक्रिया बहुत ही स्वाभाविक है। मैं इसे और भी स्पष्ट कर देना चाहूँगा कि यह प्रतिक्रिया किसी दार्शनिक या वैज्ञानिक की नहीं है, किसी प्रायोगिक विचारक की नहीं है। यह एक कवि की, एक मनुष्य की प्रतिक्रिया है। आज जब कि किस्सा गढ़ना, केंचुल के कल्पित दंश सहना, हमारी प्रवृत्ति हो गयी है, अतिशय मिथ्यात्व और कृत्रिम अनुभवों के बीच हम जीने के आदी हो रहे हैं, तब सहज और अकृत्रिम मनुष्यता के लिये आकांक्षा प्रकट करना ही हमारी स्वाभाविकता है।

'आदिम सच्चाई' के रूप में कवि ने 'कंकावती' को ऐतिहासिक सन्दर्भों में देखा है। ये ऐतिहासिक सन्दर्भ अपने में दार्शनिक सन्दर्भ भी समेटे हुए हैं। ये सन्दर्भ सृजन और पुनर्रचना के हैं। न केवल राजकमल चौधरी, अपितु धर्मवीर भारती स्वयं भी इस आदिम सच्चाई की तलाश करते हुए कनुप्रिया के पास पहुँच जाते हैं, जो मानव की राग-वृत्ति के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुई है। धर्मवीर भारती 'अन्धा युग' में उदास और निराश हैं। उनके सामने कुछ नहीं

है, जिसके लिए वे व्याकुल हों, पर 'कनुप्रिया' में राधा है। राधा के वे सहज मनोभाव हैं, जिसके लिए वे बेचैन हैं, उसको हर क्षण सच्चाई के रूप में, एक अमित और अमन्द सच्चाई के रूप में देखना चाहते हैं। राजकमल और उनमें यदि कहीं अन्तर है, तो यही कि उन्होंने इसे अपनी व्यक्तिवादिता के माध्यम से प्राप्त किया है और राजकमल ने अपनी सामाजिकता के माध्यम से। राजकमल का सब कुछ व्यक्तिगत होते हुए भी, सब कुछ सामाजिक है; जब कि भारती का सब कुछ सामाजिक होते हुए भी सब कुछ व्यक्तिगत है। राजकमल का व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही अनौपचारिक हैं और भारती का व्यक्तिगत अनौपचारिक तथा सामाजिक नितान्त औपचारिक है। पर चूंकि दोनों ही 'सहज मनुष्यता' के आकांक्षी हैं, इसलिए दोनों समीप भी हैं, भले ही इस समीपता के बीच, कितने ही दूरान्देशी प्राचीर हों।

वह 'सहज मनुष्यता' क्या है? क्या इसका संबंध वैष्णव सहजिया दर्शन से है, या अस्तित्ववाद से, या कवि की नितान्त निजी प्रतिक्रिया से?

मैं यह स्वीकार करता हूँ कि दोनों ही कवियों में ऐतिहासिक सन्दर्भ और पाण्डित्यपूर्ण कल्पनाएँ भरपूर मात्रा में विद्यमान हैं, पर धर्मवीर भारती का पाण्डित्य जहाँ उनके प्रगाढ़ और व्यापक अध्ययन का परिणाम है, वहीं राजकमल ने इसे अपने घरेलू संस्कारों और भारतीय परिवेश से प्राप्त किया है। दोनों ही मनुष्य की सत्ता को श्रेष्ठ मानते हैं, किन्तु एक कवि जहाँ मानवीय सत्ता को पारलौकिक चेतना से संलग्न पाता है, वहीं दूसरा कवि मनुष्य को इससे निरपेक्ष पाता है। भारती की मानवीय भावना की गरिमा उसकी दार्शनिक गहराइयों में है, उनकी मनुष्यता किसी बड़ी शक्ति की गोद में है; जबकि राजकमल का मनुष्य स्वयं ही शिव भी है। उसे किसी मनुष्येतर महत्ता की आकांक्षा नहीं है। इस प्रकार भारती का सहज दर्शन और राजकमल की दर्शन-निरपेक्ष सहजता परस्पर भिन्न हैं।

यह 'दार्शनिक निरपेक्षता' इस युग की नव्यतम काव्य-प्रवृत्ति है। कुछ लोग इसे ही आधुनिकतम कविता की लक्ष्यहीनता कहते हैं, और कुछ लोगों के अनुसार यही नये कवियों की अस्वीकृति है। जो भी व्याख्या की जाय, किन्तु दार्शनिक निरपेक्षता को दृष्टि-निरपेक्षता या दृष्टिहीनता नहीं कहा जा सकता। नये कवियों के पास एक दृष्टि है और वह दृष्टि तमाम अर्थहीन, थोथी विद्यमानता को नकारने की है। यह 'नकार या निषेध' अपने आपमें कोई लक्ष्य नहीं है और न हो ही सकता है। 'एक साहित्यिक की डायरी' में मुक्तिबोध ने लिखा है: 'अनास्था आस्था की ही पुत्री है।' न केवल मुक्तिबोध, बल्कि अनेकानेक कवियों ने अपने इस नकार या निषेध को स्पष्ट किया है कि यह एक

विशेष प्रकार की स्वीकृति के कारण है। ऐसी स्थिति में जब सुरेन्द्र चौधरी जैसे लोग 'एक और देहगाथा' का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि राजकमल अपने लिए जिस दुनिया की मांग करता है, उसकी कोई व्यवस्थित तस्वीर या नैतिक अनिवार्यता भी उसके दिमाग में है, या वह केवल नकारना जानता है? तब मैं कहना चाहता हूँ कि राजकमल जो कुछ भी चाहता है, और जिस ढंग से चाहता है, वह उनकी उस लीक से हटकर है, जिस पर चलते रहने से सारी दुनिया की समस्याओं का समाधान मिल जाता है। राजकमल न केवल सुरेन्द्र चौधरी, बल्कि तमाम लीकवादियों से अलग हैं। आत्मनेपद के लेखक का यह वक्तव्य मैं यहां केवल सुरेन्द्र चौधरी के लिए उद्धृत कर रहा हूँ: 'आधुनिक युग का कोई भी सन्तोषजनक जीवन-दर्शन किसी एक व्यक्ति के अवदान पर आधारित नहीं हो सकता। वह कई क्षेत्रों की कई प्रतिभाओं के अवदान का और कई विज्ञानों के शोध की उपलब्धियों का समन्वय मांगता है। आज के अति-विशेषीकृत युग में यह समन्वय बहुत कठिन भी हो गया है और इधर प्रयास भी बहुत कम हुआ है......इसलिए इस विषय में तरह तरह की भ्रांतियाँ फैली हुई हैं, जिनमें एक मुख्य भ्रान्ति यह है कि मार्क्स ने हमें एक पूरा जीवन-दर्शन दिया है और वह बहुत बड़ा जीवन-दर्शन है।' मार्क्सवाद ही नहीं, समस्त दार्शनिक मतवादों का कोई समन्वय और सामञ्जस्य राजकमल की कविता में तो है नहीं, आधुनिक युग के किसी भी कवि की कविता में नहीं है। किन्तु इसे दिशाहीनता या जीवन की अव्यवस्था नहीं कहा जा सकता।

और जिस परम्परा तथा इतिहास का निषेध है, वह क्या है, इसे भी समझना होगा। राजकमल परम्परा और इतिहास के विरोधी अवश्य हैं, किन्तु यहाँ उनका विद्रोह आंशिक ही है। मध्य-युग और आधुनिक-युग की जीवन-स्थितियों को निर्देशित करने वाला इतिहास और परम्परा एक बहुत बड़ा छल है। परम्परा के नाम पर अ-गतिकता और इतिहास के नाम पर घटनाओं के प्रेत हमारे लिए कभी भी उपयोगी नहीं हो सकते। और यहीं से राजकमल का नकार प्रारम्भ होता है। उनका कहना है कि हम निरावृत्त, मुखौटा-हीन व्यक्ति को चाहते हैं। हम चाहते हैं ऐसे जीवन को, जो मुक्त हो, उसके साथ न तो इतिहास की असंगतियाँ हों, और न तो परम्परा का बोझ हो। यह जो 'निरी मनुष्यता' है, यही राजकमल का स्वीकार है। 'मुक्तिप्रसंग' में उन्होंने लिखा है:

> आओ इस राजभवन में, इस कारागृह में अतएव चिंताविमुक्त हो जाएँ
> उतार डालें अपने चेहरे अपनी नकाब

अपना इतिहास -कवच अपना वर्तमान शिरस्त्राण
नग्न निःशस्त्र हो जाए"..........
अपनी मुट्ठियों में थामे हुए अपना व्याकरण

मनुष्यता का यह अनावरण ही निरी मनुष्यता (Nacked Humanity) का उद्घाटन है और यही मुक्ति का असली प्रसंग है। यह मुक्ति देह की राजनीति से मुक्त तो करती ही है, उन अन्य राजनीतिक दांव-पेंचों से भी मुक्त करने के लिए भी संकल्पबद्ध है; जो धर्म, दर्शन, इतिहास, समाज-सेवा और न जाने कितने ही ऐसे क्षेत्रों में व्याप्त है। बहुत सारे कवियों ने अब तक इसके प्रति अपना व्यंग्य-भाव, असंतोष, खीझ और आक्रोश व्यक्त किया था। राजकमल ने अब इससे मुक्त होने का प्रस्ताव रख दिया है। उनकी मृत्यु के पश्चात् धर्मयुग में उनकी एक कविता प्रकाशित हुई थी, जिसमें उन्होंने इस प्रस्ताव का दूसरा पक्ष, जो कि रचनात्मक है, भी रखा है। कविता का शीर्षक है : 'इस अकाल बेला में जम्बूद्वीप के प्रारम्भ से ही अन्धकार बन गया है हमारा संस्कार।'

राजकमल की यह कविता विवेक और संस्कारों के द्वन्द्व पर चलकर आई है। राजकमल के मन में विवेक की इस परम्परा के प्रति तीखा विरोध है। भौतिकवाद की प्रभुताई में विवेक ही एकछत्र शासक है और इस एकछत्रत्व का विरोध करना ऐसा अपराध है, जिसका मार्जन शायद हो सके। किन्तु जिसकी यह सहज प्रवृत्ति ही हो, उसके लिए अपराध और दण्ड का भय निरर्थक है। राजकमल एक ऐसा ही विद्रोही कवि था, जिसने आधुनिक युग की समस्त सामन्तवादिता के प्रति यह रुख अपनाया। इस रूप में उनका यह प्रस्थान मत्स्य संस्कारों से सम्पन्न है, जो सदैव ही धारा के विपरीत चला करती है। राजकमल भी इस आधुनिक जगत-प्रवाह के प्रतिकूल जाने के लिए संकल्पबद्ध थे।

राजकमल की यह 'प्रतिकूलता' आधुनिकों के लिए चौंकाने वाली बात हो सकती है, किन्तु यह प्रस्थान आधुनिकतावादियों से आगे का है। जहाँ विज्ञान, मनोविज्ञान आदि समस्त प्रायोगिक विचारधाराएं पहुँच कर समाप्त हो जाती हैं, वहीं से आत्मा की स्वाधीनता और संस्कार का स्वर उठकर चलने लगता है। अपनी कविता में इसी विश्वास को मूल्य आधार स्वीकार करते हुए राजकमल ने लिखा है :

समय ने नहीं दिया है मुझको, मेरे इस ब्रह्माण्ड को अब तक अतएव
मेरी कविता को और मेरे व्यक्तिगत रात्रि जीवन को
भोग करती हैं केवल मछलियाँ, फूलदान में

देवुल पर पत्थर जड़े नीले काँच में, प्रति मुहूर्त
रंग गंध रूप ध्वनि और भाषा
गर्भ धारण करती हुई, मेरे संपूर्ण परिवेश में
तैरती हुई मछलियाँ

ये मछलियाँ 'व्यक्तिगत-रात्रि जीवन का भोग भी करती हैं और 'गर्भ भी धारण' करती हैं; किन्तु इनके भोग और गर्भ धारण करने का 'अर्थ अन्ध संस्कारों' की परम्परा को ही आगे बढ़ाना है। राजकमल की मछलियाँ कबीर और अज्ञेय की मछलियों से बिल्कुल भिन्न हैं। कबीर के लिए वे साधना मार्ग की दुरूहता और जटिलता का प्रतीक निर्वाह करती हैं, तो अज्ञेय के काव्य में जीवन के बहुरंगी सपनों और भास्वरता को संकेतित करती हैं। कबीर का ध्यान मछली की विपरीत प्रकृति पर है और अज्ञेय उसके झिलमिल रोमानी स्वरूप पर मुग्ध हैं। राजकमल की मछलियाँ वासना और भोग की प्रतीक हैं। 'मछली मरी हुई' उपन्यास में राजकमल ने मछली का संबंध काम-वासना और सृजनेच्छा से जोड़ा है।

राजकमल मैथिल ब्राह्मण थे और उनका परिवार शैवागमों के अन्तर्गत कौल वामाचार तान्त्रिक मत का विश्वासी था। मछली खाना उनका सामाजिक कर्त्तव्य था और इस प्रकार मछली उनके रक्त में थी और उनके चारों ओर भी। किन्तु इस भोगवाद से अब वे ऊब गये हैं। उद्धरण से मत्स्याधिकता के प्रति उनकी अन्यमनस्कता देखी जा सकती है। उन्हें अपने भीतर और बाहर का यह परिवेश अच्छा नहीं लगता। पर समय ने और जमाने ने आदमी को ऐसा होने के लिए विवश कर दिया है। आदमी अब इसके सिवाय रह ही क्या गया है! ये सब ज्ञान-विज्ञान, अन्वेषण-आविष्कार मनुष्य के लिए थे, पर धीरे-धीरे ये ही उसके पर्याय हो गये और यहीं उसकी सत्ता संकट ग्रस्त हो गई है। यहीं कवि को उस अलौकिक अन्धकार का बोध होता है, जिसके निमित्त अश्वत्थामा जैसे लोग हैं। यह अन्धकार अलौकिक इसलिए है कि यह अभेद्य और अविनाशेय है। लौकिक-अंधकार तो हमारे बूते का होता है, पर यह मानवीय प्रयासों की सीमा से बाहर। यह अलौकिक इसलिए भी है कि यह जन्म-जन्मान्तरों के लिए शाश्वत हो गया है।

ऐसी स्थिति में दो ही विकल्प संभव हैं : पारलौकिक सत्ता के प्रति निवेदन अथवा आत्मशक्ति का पुनर्परीक्षण। राजकमल जैसे कवि पहली स्थिति को स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि वे कल्पना-जीवी नहीं हैं। और दूसरी के लिए घनघोर आत्मविश्वास चाहिए। कहते हैं, विश्वास से ही विश्वास की पुष्टि होती है। राजकमल जब दूसरी ओर मुड़ते हैं, तब उनका विश्वास कांप

उठता है। वे तो आये थे मछलियों को वश में करने और जाल में फंसाने, पर उदास थके मन से लौट आये हैं, रत्नजटित मदिरा पात्र के लिए :

हे सुबन्धु, अब सँभालो अपना
महाजाल
कंधों पर बँटी हुई रस्सियाँ
अपनी वह गज-दन्त
तलवार
ऐ सुबन्धु, अब प्रदान करो
मुझे रत्नजटित श्वेत
मदिरा-पात्र

कवि की इस पौराणिक चेतना में आज के युग की विषमता का प्रतीकात्मक साक्षात्कार किया गया है। कितने लोग हैं जो आज की जटिलता और दुर्गमता से घबड़ा कर घोंघे की तरह या तो आँखें मूँद लेते हैं, नहीं तो चेतना खो देते हैं। आधुनिक संघर्ष की यह पहली विकल्पात्मक स्थिति है, जहाँ मानवीय दुर्बलता साकार हुई है। किन्तु मनुष्य की यह सीमा आत्यन्तिक नहीं होती। वह ठहरने में रुचि नहीं लेता। उसकी सार्थकता चलने में है, रुकने में नहीं, और सात हजार वर्षों से वह लगातार चलता रहा है। उसके इस यात्रित्व से ही मानव-सभ्यता विकसित हुई है। परिवार से कुनबा, गाँव, समाज, राष्ट्र तथा विश्व के अनेकानेक सोपानों को पार करते हुए आज वह फिर 'व्यक्ति-सभ्यता' में लौट आया है, जहाँ पहुंच कर वह उन्मथित कर देने वाली वासनाओं और संतप्त कर देने वाली नृशंसताओं का पुतला बन गया है। आत्मा के उच्चतम सोपानों से चलकर शरीर के 'अन्नमय कोषों' तक पहुँच जाने का यह परिणाम ही उसकी परिभाषा को बदल चुकी है, उसके जीवन का आशय भी इसी परिभाषा का अनुगामी है। कुँवरनारायण के शब्दों में :

आमाशय
गर्भाशय
यौनाशय
जिसकी ज़िन्दगी का यही आशय
यही इतना भोग्य,
कितना सुखी है वह

आधुनिक व्यक्ति की यह शरीर-निष्ठा उसकी आत्मलीनता और पशुत्व को सूचित करती है। ऐसा मनुष्य ही उन मछलियों के गर्भान्ध संस्कार से पैदा हुआ है, जो हमारे चारों ओर है, हमारे भीतर है। यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि मनुष्य मनुष्यत्व खो बैठा है।

उसका आदमीपन चला गया। राजकमल की सारी परेशानी इसी समस्या को लेकर है। किन्तु वह कर ही क्या सकता है? वह अपनी इच्छानुसार आचरण नहीं कर सकता। इसी अर्थ में वह शान्तनु और दुष्यन्त से भिन्न हो जाता है। शान्तनु ने राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्था और नियमों की उपेक्षा कर धीवर कन्या से विवाह किया था। दुष्यन्त ने शकुन्तला को देखते ही अपने अन्तःकरण को प्रमाण मान लिया था 'प्रमाणमन्तः करणं प्रवृत्तयः'। किन्तु राजकमल ऐसा नहीं कर सकते। आज शासन का सूत्र उनके भीतर नहीं, बाहर है और यह मध्ययुगीन पौराणिक चेतना की देन है। तुलसीदास के राम भी अनुचित उचित का विचार मां-बाप के आदेशों से करते हैं, धोबी की उक्तियों से करते हैं। अन्तःकरण को परीक्षक बनाना उनको स्वीकार नहीं, इसीलिए वे अग्निपरीक्षा में विश्वास करते हैं। बाहर का यह अनुशासन ही सीता और शकुन्तला के लिए पीड़ादायक है। किन्तु कवि आज का किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं है। शान्तनु और दुष्यन्त न सही, पर वह कालिदास तो हो सकता है। कालिदास ने ही तो दुष्यन्त और शकुन्तला के अन्तःकरण की गाथा का वर्णन किया है। कालिदास ही तो मानव कृतियों की उद्दातता का गायक था। वह वियुक्त और भटकी हुई आत्माओं का संयोजक था। उसका सम्पूर्ण काव्य मानव के सुख-संश्रव और आत्माओं की स्वाधीनता का स्वच्छन्द संगम है और यह वही कालिदास था, जिसने मत्स्य कन्याओं के उदर से 'नीलांगुरीय' प्राप्त किया था। यहाँ 'नीलांगुरीय' शब्द 'अंगूठी' के लिए आया है, यद्यपि संस्कृत में यह शब्द अंगुलिक होता है।

'अंगूठी' का सन्दर्भ यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य है। 'अंगूठी' शकुन्तला और दुष्यन्त के बीच स्मृति-रक्षक तत्त्व के रूप में है। अन्तःकरण से चलकर अंगूठी के सामने विवश हो जाने की स्थिति आज हमारे भी जीवन में आ गई है। हम स्वयं को भूलते जा रहे हैं। अपने स्वरूप का यह लोप और विघटन इस युग की एक प्रमुख भीषणता है, जिसके लिए किसी कालिदास की आवश्यकता है। और कवि में वह क्षमता विद्यमान है।

कालिदास के समीप स्वयं को ले जाने से एक ओर कवि का 'अहं' सूचित होता है, दूसरी ओर इस युग के कवि-कर्म की कठिनता का भी द्योतन होता है। किन्तु कवि इसके लिए तैयार है। इसीलिए कविता के पाँचवें खण्ड में वह नयी सृष्टि के लिए आकुल है। सृजनेच्छा मनुष्य की ही नहीं, सभी जीवों की एक आदिम वृत्ति है। यह मानव शरीर का संस्कार है। आधुनिक विज्ञान

ने इसे प्रमाणित तो किया ही है, विश्व के महान् लेखकों ने इस की अप्रति- बन्धित शक्ति का उल्लेख भी अपनी कृतियों में किया है। उदाहरण के लि डी० एच० लारेंस के 'लेडी चैटरलीज लव' जैसी कथाकृति ली जा सकती है। वस्तुतः यह मनुष्य के लिए एक सामान्य धर्म है और उसकी यह प्रकृति आज भी बदली नहीं है। नकेनवादियों ने लिखा है : 'आदमी को चाहिए पानी मत्स्य वह आज भी जैसे' किन्तु राजकमल नयी सृष्टि का निर्माण इसी शरीर से, इसकी लोकव्यापी परम्पराओं और व्यवस्थाओं से नहीं करना चाहते, नहीं तो फिर नयी सृष्टि और वर्तमान सृष्टि में अन्तर कहाँ होगा ! इसीलिए उसने इस सम्पूर्ण विश्व को 'अनर्गल-प्रलाप मन्दिर' कहा है :

> इस अनर्गल प्रलाप-मन्दिर में अब कोई दुखस्वप्न नहीं, मेरे लिए
> ....मृत्यु का अन्तिम आलिंगन
> स्वीकार करने के पूर्व, हम दोनों अपना कवच
> हम दोनों अपना शिरस्त्राण
> हम दोनों अपने मुकुट, अपनी रक्तशलथ पताकाएँ
> हम दोनों अपनी त्वचा, अपने मांसपिंड
> हम दोनों अपना व्याकरण
> हम दोनों अपने छन्द ताल लय गति
> हम दोनों अपनी उंगलियां
> नीलांगुरीय
> उतार लेंगे ....!

अपनी रक्षा, दूसरों का विनाश, अपने को शीर्ष पर प्रतिष्ठित करने की महत्त्वाकांक्षा, अपनी विजय और दूसरों का विनाश, यह आज के युग की स्वाभाविक प्रवृत्ति हो गई है। यह व्यक्तिवादिता और आत्मलीनता कभी भी मनुष्य को सहज नहीं होने देगी। उसकी स्वाधीनता तब तक नहीं सम्भव है जब तक इस प्रकार की परम्पराएँ जीवित हैं। स्वतंत्रता की रक्षा भी स्वतंत्र देश में मुश्किल हो गई है और 'मुक्तिप्रसंग' में ही लिखा गया है :

> मेरे ही लिए क्यों सेन्ट्रल होटल से सेन्ट्रल होटल की दूरी सात समुद्र
> चौदह नदियों की दूरी बनती है

• •

> क्यों इन्दिरा गांधी क्यों तुम वह
> मैं क्यों कुछ नहीं कुछ नहीं

क्या यही सब राजकमल की 'देह की राजनीति' या 'देह गाथा' है। यदि ऐसा नहीं है तो फिर उनका नाम 'बहते आन्दोलनों' के साथ जोड़ने का और क्या आशय हो सकता है ? क्या सचमुच राजकमल की ये बातें 'चिकनी सतहों' की बातें है ? क्या स्वतंत्र देश में स्वतंत्रता की मांग करना ही 'देह की राज-नीति' कही जायेगी ? मैं समझता हूँ राजकमल इस राजनीति की कलई खोलने के लिए संकल्पबद्ध थे और इसलिए उनके मत्थे उल्टा आरोप पड़ा। मुक्ति-बोध अपनी कविता 'अंधेरे में' जब रात के 'प्रोसेशन' को देखने और उसमें शामिल होने वाले लोगों को पहचानने में सफल हो जाते हैं, तब उन पर गोलियाँ चलायी जाती हैं। क्या आश्चर्य, राजकमल जैसा बीमार और रुग्ण व्यक्ति शब्दों से ही आहत हो जाय। किन्तु धर्मवीर भारती को राजकमल पर यहै आरोप लगाने के पहले अपने ही विषय में सोच-विचार कर लेना चाहिए था कि कहीं यह स्वयं उनकी धुरी तो नहीं है। भारती की कुछ पंक्तियां यहाँ इसीलिए प्रस्तुत हैं :

> ये शरद के चाँद से उजले धुले से पाँव
> मेरी गोद में !
> ये लहर पर नाचते ताजे कमल की छाँव
> मेरी गोद में,
> दो बड़े मासूम बादल, देवताओं से लगाते दाँव
> मेरी गोद में !
>
> (दूसरा सप्तक)

अथवा

> आज इस निभृत एकांत में
> तुमसे दूर पड़ी हूँ मैं
> और इस प्रगाढ़ अन्धकार में
> तुम्हारे चन्दन कसाव के बिना मेरी देहलता के
> बड़े बड़े गुलाब धीरे धीरे टीस रहे हैं,
> और दर्द उस लिपि के अर्थ लिख रहा है
> जो तुमने आम्र मंजरियों के अक्षरों में
> मेरी मांग पर लिख दी थी
>
> (कनुप्रिया : मंजरी परिणय)

ये हैं धर्मवीर भारती और वह थे राजकमल चौधरी ! एक ओर कवि का विक्षुब्ध मानस है; उसकी खीझ, आक्रोश, आक्रामकता है, तो दूसरी ओर दैहिक भोग की प्रक्रिया और उसके अभाव में धीरे धीरे टीसना है। क्या मैं इसी भोग

या वासना को दार्शनिक आवरण दूँ ? मेरी समझ से यह कवि के साथ अन्याय होगा, क्योंकि वह साफ साफ लिख चुका है : 'न हो यह वासना तो जिन्दगी का माप कैसे हो ?' दूसरा सप्तक का यह कवि देह का यह भोगवाद हमें १९५१ में दे चुका है, आज उसे वह दूसरे के नाम थोपना चाहता है। वह बहते आन्दोलनों को नये कवियों के साथ जोड़कर उनके सतहीपन को सिद्ध करने का फ्रॉड है या कुछ और, इसे भारती ही समझ सकते हैं।

राजकमल ने वासना या भोग को कभी नकारा नहीं, किन्तु उन्होंने इसे प्रतिमान या मूल्य के रूप में स्वीकार भी नहीं किया। यह इतनी ही महत्वपूर्ण है, जितना कि भोजन और निद्रा, किन्तु यह सब कुछ शरीर का धर्म है और इन धर्मों को वहीं तक स्वीकार करना चाहिए और उसका समाधान खोजना चाहिए। राजकमल के द्वारा जो समाधान दिया गया है, वह इस प्रकार है :

...............मन्दिर प्रवेश के पूर्व
तुम औपचारिक समय शील कपट लज्जा से विमुग्ध, आत्ममुग्ध
शब्द शैय्या पर अनावृत्त, आग्रहशील कामातुर
सृष्टिमुखी !
आओगी, सृष्टिमुखी, तुम आ जाओगी
तुम्हारा आगमन आवश्यक है इस अधम सृष्टि की रक्षा के लिए
और सृष्टि के लिए
शब्दों की शरशय्या आवश्यक है

'अलका' नारी के लिए प्रतीक है। आदिम मानवी के लिए प्रयोग करते हुए कवि ने इसका अर्थ-विस्तार भी कर दिया है—सृजन चेतना के रूप में। अलका आदि पुरुष की संगिनी भी है और कवि की संकल्प-शक्ति भी। इसीलिए उसका सम्पूर्ण वार्तालाप बहुत व्यक्तिगत है। शब्दों की शैय्या पर, आवाहन करने वाला कवि जिस अनौपचारिक समयशील परिवेश का उल्लेख कर रहा है, वह नयी सृष्टि के लिए एक शर्त है। जिस प्रकार भीष्म ने वाणों की शैय्या पर अनावृत्त और निष्पक्ष होकर न केवल अपना मूल्यांकन किया था, अपितु सम्पूर्ण युग की विगलित स्थिति की समीक्षा की थी, उसी प्रकार आज साहित्य और कला की चेतना का संस्कार करना होगा। वाग्देवी के मन्दिर में, शब्द शैय्या पर कवि क्रीड़ा के लिए भी उन्हीं शब्दों की आवश्यकता है, जो अलका को नयी भाषा, नया गति और नयी कल्पना दे सके। वह जो सृष्टिमुखी है, शब्दों की शैय्या पर अनावृत्त हो जाए और अनौपचारिक आग्रहशील कामातुरता के बीच ही इस अधम सृष्टि का विनाश हो सकता है और नयी सृष्टि का निर्माण भी।

शब्दों की यह शर-शय्या इसलिए आवश्यक है कि वे एक ओर तो कृत्रिम संवेदना और जीवन की थोथी परम्पराओं को भेद सकें, दूसरी ओर उस अलका को भी मुक्त और अनाविल सृजनेच्छा से सम्पन्न कर सकें, जो सृष्टि-विधायिनी क्षमताओं से सम्पन्न है। शब्दों की शय्या पर लेटने वाली यह अलका समस्त प्रचलित व्यवस्थाओं और नियमों से ऊपर होगी और इस प्रकार अत्यन्त सहज भावनामयता से सम्पन्न भी। मानवीय असंगतियों और दैवी उदात्तताओं का ऐसा सम्मिलन किसी अन्य पौराणिक पुरुष में नहीं है। अच्छे और बुरे का यह संगम ही तो सृष्टि की सही परिभाषा है। किन्तु शिव का रौद्र और प्रलयकारी स्वरूप विरलता से ही देखा जा सकता है। औघड़पन के बदले शिष्ट मर्यादाओं की स्थितियाँ उसके साथ अधिक हैं। किन्तु वह विशिष्ट भी है और सामान्य भी। लघु भी है और महान् भी। वह आदि पुरुष है और अन्तिम पुरुष के रूप में भी उसी की सत्ता स्वीकारी गई है। इसीलिए अधम सृष्टि के विनाश और नयी सृष्टि के निर्माण के लिए कवि ने 'शिव' की सही कल्पना की है।

इसके पहले उसने अपने को कालिदास कहा था और अब स्वयं को 'शिव' के रूप में प्रतिष्ठित कर रहा है। पहली कल्पना का स्रोत साहित्य है तो दूसरी कल्पना का स्रोत पुराण। एक कवि है, दूसरा देवता। अपने यहाँ कवि की तुलना स्वयंभू से की गई है : 'कवि:मनीषी परिभू स्वयम्भू !' कवि 'प्रजापति' होता है : अपारे काव्य संसारे कविरेक: प्रजापति: । कवि की इतनी महत्ता भारतीय चिन्तन की उदारता और भारतीय समाज की कलात्मक सृष्टि को सूचित करती है। अब राजकमल चाहे कालिदास हों या 'शिव', कोई फर्क नहीं पड़ता। शिव अपने युग के अकेले विषपायी थे और कवि भी अपने युग की समस्त अनुभूतियों का भोक्ता होता है। आधुनिक जीवन की विसंगतियों में 'शिव' के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। राजकमल लिखते हैं :

'मैंने अपना यह दशाविहीन शिवत्व क्यों प्राप्त किया है ?
क्यों मैंने ही पिया है
विषकुम्भ ?'

यह 'विषकुम्भ' आधुनिक जीवन की विषाक्तता और तिक्तता का है। एक समझदार व्यक्ति के लिए सबसे बड़ा विष पीना यही है कि वह जानते हुए भी इसे ढोये जा रहा है। जो जीवन जीने योग्य नहीं रह गया है, वही उसे जीना पड़ रहा है। यहीं विष पीने का सवाल और भी कष्टकर हो उठता है। इस प्रकार की स्थिति में कितने लोग तो ऐसे हैं, जिनके सामान्य राग-द्वेष भी मर गये हैं। कीर्ति चौधरी की कविता है :

'यह कैसा वक्त है
कि किसी को कड़ी बात कहो
तो भी वह बुरा नहीं मानता
जैसे घृणा और प्यार के जो नियम हैं
उन्हें कोई नहीं जानता'

यही आज की अभिशप्त मनुष्यता है, जिसे न केवल राजकमल चौधरी बल्कि उनके अनेक समानधर्मा कवि जानते हैं। कुमारेन्द्र पारसनाथसिंह की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

'ये लोग भी क्या खूब हैं ! आदमी का अर्थ धो डालने पर
तुले हैं। जानवर हैं। जिन्दगी को आदिम अहेर और दुनिया को
जंगल किये चलते हैं।'

'विषकुम्भ' पीने का एक दूसरा अर्थ कवि के अहं से जुड़ा हुआ है। लगता है जैसे पूरे जमाने का दुःख उसने ही उठाया है। हिन्दी में यह प्रवृत्ति मध्यकालीन कवियों से ही देखी जा सकती है, जहाँ वे 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' और 'हौं तो सब पतितन को टोको' जैसी पंक्तियाँ लिख गये हैं, किन्तु वे भक्त कवि थे और अपनी दास्य भावना के कारण मनुष्यों की निकृष्टतम स्थिति से अपनी तुलना करते थे, जबकि आधुनिक कवि ऐसा करके किसी प्रकार भी अपने को हीन प्रमाणित नहीं करना चाहता। अतः यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं कि अपनी तुलना 'विषपायी शंकर' से करना कवि के अहं के कारण है। किन्तु एक व्यक्ति रूप में राजकमल विचित्र अनुभवों के कवि रहे हैं। एक ओर ब्राह्मण परिवार, मैथिल लोक-जीवन और तन्त्र साधना है, तो दूसरी ओर उनका सम्पादक और लेखक का अर्थाभाव वाला जीवन रहा है। दोनों के कड़वे मीठे अनुभव उनको मिले हैं और भयंकर अस्वास्थ्य के दिनों में उन्होंने दुःख का और भी कटु अनुभव किया तथा उस जीवन का भी स्मरण किया, जो 'पीड़ित मानवता' का पर्याय है। इसी के उद्धार के लिए वे 'शिव' बने। यही उनके व्यक्तित्व की बौद्धिकता थी। यह राजकमल के जीवन की अन्तिम आन्तरिक अपेक्षा थी, जिसने उन्हें सचेत किया है और प्रबुद्ध भी कि मैं और हम में कोई तत्वगत अन्तर नहीं है, पर दोनों दो भिन्न स्थितियों का निर्देश करते हैं। 'मैं' राजकमल की काव्य-चेतना, कालिदास और शिव समाये हुए हैं; तथा 'हम' में राजकमल तथा यह सम्पूर्ण जीवन ! इन दोनों को निकट लाने का प्रयत्न उन्होंने हमेशा किया है। उनकी कविता में इसीलिए वे स्वयं प्रतीक हैं, उस व्यापक और विशाल जीवन के, जो न केवल उनके आस-पास का है, बल्कि सामूहिक और सार्वभौमिक है। इस पीठ पर राजकमल का

दुःख, भोग या कष्ट उनका निजी नहीं रह जाता।

सम्पूर्ण कविता में 'मैं' का यह स्वर ही समग्र परिवेश को अपने में लीन करता हुआ दिखाई देता है। विशिष्टता में सामान्यता का यह लोप भले ही उल्टी पद्धति हो, किन्तु यही युग की प्रकृति है। कबीर ने जब उलटबाँसियां लिखी थीं, तो केवल चमत्कार के लिए नहीं। उनका सार्थक प्रयोजन था और वह यही कि जगत की रीति से विपरीत चल कर ही उनकी बात समझी जा सकती है, क्योंकि वह बात ही जगत की 'रीति' के विपरीत है। राजकमल की यह पद्धति भी बहुत कुछ उसी प्रकार की है। आधुनिक विश्व के इस रीतिवाद के विरोध में ही तो राजकमल खड़े हैं। इसीलिए न तो उनमें अतीत के प्रति आकर्षण है और न वर्तमान के प्रति मोहभाव। भविष्य की बात का तो प्रश्न ही नहीं उठता। वर्तमान, जो कुछ जैसा है, उसी को नया संस्कार देना है और यह तभी सम्भव है, जब कि सम्पूर्ण उपस्थित वास्तविकता का निषेध किया जाय। सुरेन्द्र चौधरी इसे ही जीवन का नकार मानते हैं। किन्तु यह जीवन का नकार नहीं, जीवन की कतिपय स्थितियों का नकार है। आधुनिक समय में जीने का ढंग और जीने की युगव्यापी परिभाषा की अस्वीकृति है। वास्तविकता तो यह है कि राजकमल का व्यक्तित्व सर्वग्राही था। वहाँ कहाँ नकार ! यदि नकार ही होता, तब विषपान की स्थिति ही कहाँ आती ? किन्तु वे जीवन को उचित परिभाषा और सम देना चाहते थे। और इसकी पहली प्रक्रिया सम्पूर्ण परिवेश को कुण्ठामुक्त करने से सम्बन्धित है। 'लहर' के मई-जून संयुक्तांक में उन्होंने लिखा है : 'कोई झूठा आशावाद, कोई गलत लबादा, मसीहाई का कोई दावा मुझको नहीं है। लेकिन मैं आदमी को समूचा (whole) और पूरा (perfect) देखना चाहता हूँ। यही मेरा जीवन-दर्शन है।..............मैं जो कुछ करता हूँ, अपनी किताबों में, अपने नशे में, अपनी स्त्रियों में और अपने विचारों में जो कुछ भी मैं करता हूँ, उसका कारण कुण्ठा नहीं है। उसका एक-मात्र कारण मेरी मुक्ति प्रार्थना है। यही राजकमल की सामाजिक चेतना है, जिसमें समाज—जो विद्यमान है—का निषेध तो है, किन्तु सामाजिकता का निषेध नहीं है।

जिस समाज का निषेध राजकमल करते रहे, वह यहाँ विद्यमान है :

जब हम लोग बीजगणित की मूल धारणाओं को अपने स्थायी
ज्वराक्रान्त जर्जर शरीर की चिकित्सा में उपयोगी
और उपलब्ध बना रहे हैं
अभी हम लोग फूलदान में मत्स्य कन्याएं
मदिरा निर्माल्य अर्थ-विस्तार नियति शव-साधना

और ईश्वरीय महिमा
चाहते हैं प्राप्त करना वह अभिव्यक्तिहीन
आत्मगरिमा—क्रिया में, अपराध में, व्याधि में
कविता में भूमि-पतित भूमि-धूसर भूमि-कुष्ठित
शिवलिंग—समाधि में
अभी हम लोग मूर्ति-पूजक, जातियों के आदिम संस्कार
(समय ने ही दिया है
मेरे इस ब्रह्माण्ड को यह अलौकिक अन्धकार)
अस्वीकृत नहीं किमाश्चर्यमतः परं
कर पाये हैं,
क्योंकि हमारे अस्तित्व के नेपथ्य में, अभ्यन्तर में निर्णयपूर्वक स्थापित है
कोई एक दूसरा सत्य
कोई एक दूसरी नदी, दूसरी स्थिति दूसरा जल-स्वप्न
कोई एक दूसरी विडम्बना
कोई एक दूसरी मृत्यु, कोई एक दूसरा ईश्वर
जिसे हम लोग अब तक
अपनी कविता अपनी स्त्री अपनी प्रकृति
और कभी कभी अपनी मुक्ति कहते आये हैं।.........'

कवि का यह निरीक्षण और निष्कर्ष उसकी जातीय-चेतना और अनुभव-सूक्ष्मता के प्रमाण हैं। हमारा सम्पूर्ण परिवेश या तो दिखावटी है या झूठा। हम जो जी रहे हैं, वह जीना नहीं है। जिसे हम आत्म-गरिमा समझते हैं, वह वस्तुतः कुछ और है। कविता और कला के नाम पर जो कुछ भी हो रहा है, वह सब या तो फरेब है या हमारी जड़ता। इन्हीं दोनों के बीच वह समाज है, जिसको राजकमल की कविता नकारती है। राजकमल का नकार उन बेमानी मूल्यों के प्रति है, जो वस्तुतः मूल्य हैं ही नहीं। द्विविधा, नियतिवादिता, भाग्यवाद, अकर्मण्यता और फलागम, आत्महंताओं की भीड़ और सत्य के प्रतिरूपों का ही यहाँ जमघट है। हम उन परम्परागत सत्यों (?) से घिर गये हैं, जो भयंकर मिथ्यात्व के प्रतिनिधि हैं और हम इन्हीं की पूजा करते चले आ रहे हैं। मूर्तिपूजक जातियों का यही आदिम संस्कार है। पत्थर के देवता को पूज-पूज कर हम भी पत्थर हो गये। और अब कहीं कोई संवेदना नहीं रही। सर्वेश्वर की एक कविता है : रात भर :

'रात भर'
हवा चलती रही,

मन मेरा
स्मृति के कब्जे पर
कसे हुए खिड़की के पल्ले-सा
खुलता बन्द होता रहा—
छत और दीवार के बीच
सर पटकता रोता रहा।
खूँटी पर लटका
एक चित्र हिलता रहा
सेज पर कोई
चादर तान सोता रहा।'

एक ओर 'सर पटकना और रोना' है तथा दूसरी ओर 'सेज पर चादर तान कर सोना'। कितना बड़ा विपर्यय (Contrast) है यह ! इसी विपर्यय में कवि यह अनुभव करने को विवश होता है :

'कहाँ हूँ मैं आह !
कौन सा है यह तरंगित विपुल माया लोक ?
चारों ओर मेरे, घिरा चारों ओर, चारों ओर, चारों ओर.........

विजयदेवनारायण साही

यह 'माया लोक' वही है, जहाँ मनुष्य का व्यक्तित्व कृत्रिम सत्यों से अनुशासित होने को विवश है, चाहे वे सत्य धर्म के हों, या राजनीति के। इतना बड़ा चमत्कार कि जो वास्तविकता है, वही आभास बन गया है, और जो आभास है, वह वास्तविक हो गया है। गलत परिभाषाओं और भ्रष्ट प्रतिमानों के ही कारण अज्ञेय जैसे चिन्तक कवि को भी कहना पड़ा है :

असन्दिग्ध ये सभी सभ्यता के लक्षण हैं
और सभ्यता
बहुत बड़ी सुविधा है
सभ्य, तुम्हारे लिए !

(नयी कविता).

सभ्य लोगों (सिविलियन) के लिए सभ्यता एक सुविधा है, वैसे ही, जैसे नेताओं के लिए राजनीति एक सुविधा बनती जा रही है। जहाँ सिद्धान्तों की आड़ में सिद्धान्तहीनता और स्वतन्त्रता के नाम पर पराधीनता की स्थिति है, वहाँ सभ्यता की स्थिति मानी जाय तो कैसे ?

यहीं यह प्रश्न और भी महत्वपूर्ण हो उठता है कि इसके मूल में कौन से तथ्य हैं ? 'मुक्तिप्रसंग' में राजकमल ने उन तीन प्रभु-जातियों का उल्लेख

किया है जो इस समस्त सभ्यता (नाश) के आधुनिक स्रोत हैं :

वैज्ञानिक राजनेता और स्त्री अंगों के व्यापारी
कुल तीन ही प्रभु-जातियाँ रह गयी हैं अब स्वयंभू-अस्तु'

विज्ञान ने आदमी को छोटा कर दिया । '.......आदमी का गौरव चूर्ण-चूर्ण हो गया । मनुष्य पशु से भिन्न किसी उत्तम योनि का जीव है, यह कल्पना टूक टूक हो गयी । आदमी लुढ़क कर जानवरों के बीच जा मिला और वहाँ भी यह चिन्ता उसे सताने लगी कि वह निर्णय लेने में भी स्वतन्त्र नहीं है ।' दिनकरजी का यह वक्तव्य विज्ञान की ज्यादतियों को लक्षित करने में पूर्णतः सक्षम है । उन्होंने आगे यह भी लिखा है : 'वर्तमान सभ्यता इस पीड़ा से बेहाल है । जो कम जानते थे, उन्होंने यह कह कर सन्तोष कर लिया था कि संसार लीला है । जो अधिक जान गये हैं, वे कहते हैं, संसार रहस्य है ।' दर्शन और विज्ञान के इस ताल-मेल को जिस रूप में भी बढ़ाया जाय, किन्तु वैज्ञानिकता ने मनुष्य को यन्त्रवत कर दिया है । आत्मा की सत्ता वहाँ स्वीकार्य नहीं है वैसी स्थिति में आत्मा की स्वाधीनता का कोई प्रश्न तो उठता ही नहीं और राजकमल चौधरी इस स्वाधीन चेतना के न केवल पुरजोर समर्थक हैं बल्कि उसके अग्रणी उद्घोषक भी हैं । उन्होंने लिखा है : 'मैं इतना स्वतन्त्र स्वाधीन हूँ कि शरीर की दशाएँ और महादशाएँ मुझे आतंकित नहीं कर पातीं

'मुझे कुण्ठाग्रस्त नहीं कर पाती
हैं क्योंकि
मैं अपने शरीर का स्वामी हूँ
शरीर मेरा देवता नहीं है
मेरा दास है !!'

जब कि वैज्ञानिक दृष्टि से, मैं अपने शरीर और अपने शरीर में आवश्यक के अनुसार पैदा होनेवाली इच्छाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं हूँ । आत्मा नहीं, ईश्वर भी नहीं, केवल यह शरीर........।'

असली प्रश्न यहाँ बुद्धि की परम्परा, विज्ञानवाद और यांत्रिकता का त आत्मा की स्वाधीनता और भावनामयता का है । राजकमल ने दूसरी स्थि को स्वीकार किया है । मैं कह सकता हूँ, राजकमल इस प्रचलित और नारेबा आधुनिकता का निषेध कर रहे थे । इस यांत्रिक और मानव-विरोधी दृष्टि प्रति उनके मन में तीव्र आक्रोश था । अकेले राजकमल ही नहीं, इस युग अनेक कवि प्रतिभाओं ने इस आधुनिकता के प्रति अपनी अन्यमनस्कता व्य की है । शलभ श्रीरामसिंह की यह प्रतिक्रिया यहाँ उल्लेखनीय है :

कुछ नहीं है...........

ल

बात कहाँ से, किस प्रकार

ना, उसमें परिव्याप्त भाव-
, सम्भव नहीं है । तटस्थ
र्पित है । और जिस व्यक्ति
चना का कोई व्यापक अर्थ
हो न हो; विशिष्ट व्यक्ति,
ई विशिष्ट अर्थ हो—और
। उसकी जीवन सम्पृक्त
ाव-पक्ष की समीक्षा वास्त-
नुमान के आधार पर नहीं

प्रति दया, क्षोभ, स्नेह या
। अतः तटस्थ समीक्षा-दृष्टि
कर व्यक्तिपरक काव्य की

—' की कुछ विशेष पंक्ति-
ऐसा नहीं है, जिसे चक्रव्यूह
बोधगम्य तथा प्रभावोत्पादक
स्पष्टीकरण के बावजूद प्रयुक्त
र-मण्डल एवं शास्त्र-सम्बद्ध
समझ में नहीं आता । प्रसंगतः

य गणना करने

करने के लिए

ण

....

वहाँ गिरा था सती का स्कन्ध-पीठ,
वर्तमान वहीं गिरा था

योनि कामाख्या·····' आदि आदि उक्तियाँ इस बात का भ्रम पैदा करती है कि अगर 'डिलीरियम' और काव्य-चेतना के बीच की स्थिति में कविता (या अ-कविता) लिखी जाय, तो यही होगा कि बहुत-सी भावनाओं तथा अर्द्धचेतना के बीच असली वक्तव्य टूट-बिखर जाएगा कि अस्पष्टता सीमातीत हो जाएगी। —कि पाठक अलकनन्दा दासगुप्ता को कभी उर्वशी, कभी मंजु हाल्दार, कभी मात्र काव्य-प्रेरणा और कभी 'काल्पनिक संज्ञावाचक नाम' समझेंगे।

और, हमें इन तथ्यों को तो स्मरण रखना ही होगा कि उपगुप्त, कुमारगिरि, अजातशत्रु, विक्रमोर्वशी आदि ने कब क्या किया था? प्रजापति के यज्ञ में सती क्यों स्वेच्छा से भस्म हुई थी? ब्रह्म-कुण्डलिनी, बुद्धि सहस्रार इत्यादि क्या है? क्यों है? योनि-कामाख्या, वैष्णवी आदिशक्ति तथा शक्ति-शव-साधक किन स्थितियों-परिस्थितियों से उत्पन्न है?

'रहस्यवती योनि-कामाख्या सती-वर्त्तमान ब्रह्म-कुण्डलिनी से हमलोगों का शक्ति-शव साधकों का अवतार लेता है

शब्द
सर्वप्रथम और सर्वान्तिक वह
शब्दालिंग
हमारे अस्तित्व का कारण और हमारे जीवन की धारणा'

तथा एक अन्य प्रसंग में :

'उपगुप्त कुमारगिरि अजातशत्रु के आगमन उपरान्त
उतार कर त्वचा-कवच अस्थि आयुध
कामप्रद निर्मोक-नृत्य में फलवती हों नायिकाएँ····'

····आदि आदि अंश न केवल दुरूह हैं, वरन् किसी असामान्य अवस्था को समर्पित, अनावश्यक व अगम्य प्रतीक कथनों से संश्लिष्ट होने के कारण व्याख्यायित सन्दर्भों को समझने में किसी भी प्रकार सहायक नहीं प्रतीत होते।

'मुक्तिप्रसंग' की आलोचना करते हुए चन्द्रमौलि उपाध्याय ने कभी राजकमल चौधरी के विषय में लिखा था : 'लगता है, मानवीय अंतरंग की बहुत ऊँचाई तक उठता हुआ राजकमल धरातल नहीं छोड़ेगा, यथार्थ से विमुख नहीं होगा' और साथ ही : 'कलात्मक पक्ष में बिम्बों का रील की तरह गुम्फित होकर दौड़ना उसकी शक्ति है?'

[illegible] दोनों में से पहली विशेषता 'ऋतु शृंगार····' में नहीं है – [illegible] इसलिए कि यह कविता किसी निश्चित उद्देश्य, भावना या [illegible] से नहीं लिखी गयी। वर्तमान यथार्थ पर पूरी आस्था एवं विश्वास प्रकट करते रहने के बावजूद ('अतीत से भी ज्यादा प्रकाशित और विवेक-कीलित बना यह वर्तमान', 'काल परिधि से छूटकर बाहर आता हुआ यह अस्पृश्य वर्तमान') बार बार अतीत प्रसंगों में लौट जाने की क्रिया कुछ ऐसी है, जैसे सामने ढेर-सा कूड़ा-करकट होने पर 'दूरदृष्टा' हो जाना ही हमारी नियति हो। और इसीलिए अतीत में लौट जाना या फिर भविष्य में उछलना कि वहाँ किसी प्रकार का कूड़ा नज़र न आये।

जब कि ऐसा होना नहीं चाहिए था। वर्तमान के प्रति आस्था और विश्वास रखने वालों के लिए अतीत का मोह गलत बात है। और 'मेरी कविता तथा मेरी वासनाएँ मेरे लिए क्रमशः प्रथम और अन्तिम वर्तमान है! तुम इनमें से किसी एक में शामिल हो सकती हो, हम दोनों के साथ, इन्हें अपने और हम लोगों के भविष्य में शामिल नहीं कर सकती····' जैसी बात कहना भी गलत है। वस्तुतः भविष्य को अस्वीकार करना वर्तमान की [illegible] का अस्वीकार है। जबकि आपसे मेरा परिचय किसी न किसी अतीत या वर्तमान का ही भविष्य है, तो भविष्य-शून्य वर्तमान को स्वीकार करने के पक्ष में कौनसा सही तर्क उपस्थित किया जा सकता है? हमें यह कहने का अधिकार कहूँ कि साहस, क्यों नहीं कि हमलोगों का वर्तमान सम्मिलित नहीं, किन्तु भविष्य हो सकता है।

दूसरी विशेषता अर्थात् कलापक्ष की दुरूहता का प्रश्न ही 'ऋतु शृंगार······' का पहला प्रश्न है। अर्थात् शायद इसी को 'शब्द-क्रान्ति' या कि 'सशक्त समर्थ भाषा' की संज्ञा दी जानी चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं कह पाने का मुझे दुख है। दुःख इस बात का भी है कि कवि की अनुपस्थिति में ('मृत्यु' की अपेक्षा 'अनुपस्थिति' शब्द मुझे अधिक सच और सही लग रहा है) कविता की समीक्षा करने के अतिरिक्त और कुछ करने को रह नहीं गया है, मेरे लिए। काव्य-समर्पण के लिए कवि को धन्यवाद भी मैं नहीं दे पाई, क्योंकि 'युयुत्सा' (मई-६७) में प्रकाशित 'अलकनन्दा दासगुप्त के लिए राजकमल चौधरी की रचना 'ऋतु शृंगार में खण्डित नायिकाएँ' मुझे अभी नवम्बर '६७ में ही देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। ● ●

राजकमल चौधरी : कहानी का चेहरा

सुरेन्द्र चौधरी

•

राजकमल के अनुयायियों और विरोधियों की स्थिति इस अर्थ में लगभग एक-सी है कि यदि विरोधियों ने उसका खंडन समुचित रीति से नहीं किया, तो अनुयायियों ने भी उसकी स्थापना अपेक्षित गहराई में जा कर नहीं की है। किसी लेखक के लिए इससे अन्तर्विरोधी और दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति दूसरी नहीं हो सकती। राजकमल पर अब तक जो कुछ भी लिखा गया है, वह गलत आग्रहों का परिणाम न होता और उसके व्यक्तित्व को बार-बार रचनाओं से जोड़ कर देखने की चेष्टा न की गई होती, तो इस लेख के लिखने में मेरी कोई तात्कालिक दिलचस्पी न होती। मैं नहीं मानता कि राजकमल ने अपनी रचनाओं में अपनी सम्भावना को पूरा कर लिया था, या कि ग़लत कर लिया था। यही उसकी रचनाओं के आंतरिक तनाव का कारण भी है और आंतरिक सार्थकता भी। बहुत कम अरसे में उसने बहुत ज्यादा लिखा। उसका कथा-साहित्य इस बहुत कुछ लिखने के अन्तर्विरोध का शिकार है—स्तर और आंतरिक बनावट में उसकी कहानियाँ इतनी अलग हैं कि ऐसे निष्कर्ष निकालना सहज हो जाता है। कविताएँ उसने कम लिखीं और अच्छी लिखीं। उपन्यासों में वह अपने अधूरेपन का सही-सही आभास देता है।

राजकमल की कहानियाँ रिपोर्ताज जैसी लगती हैं, क्योंकि उनका एक अपना अलग-थलग 'लोकेल' जैसा बन जाता है। उच्च-मध्यवर्ग, मध्यवर्ग और निम्न-मध्यवर्ग—यानी मध्यवर्ग के पूरे ढाँचे के विस्तार को अपनी कहानियों में समेटने के साथ-साथ उसने विरूप सर्वहारा जीवन पर भी कहानियाँ लिखी हैं। हाँ, जहाँ-जहाँ वह अपनी 'अण्डर वर्ल्ड' संवेदना का आभास ज़रूरत से ज्यादा देने लगता है, वहाँ उसकी कहानियाँ फैण्टेसी बन जाया करती हैं। और राजकमल ऐसी कहानियों को बड़ी सावधानी से अलगाने की जरूरत है। और राजकमल के सन्दर्भ में यही काम सबसे कम हुआ है। नयी कहानी की कल्पित तस्वीर को राजकमल इन्हीं कहानियों में तोड़ता है। क्या यही कारण नहीं है कि नयी कहानी के इम्पोस्टर नेता उसे झटके से खारिज करना चाहते हैं ? राजकमल नयी कहानी का सही प्रतिपक्षी (एण्टागॉनिस्ट) है। एक साहसी ईमानदार प्रतिपक्षी को राजेन्द्र यादव एक पंक्ति में खारिज करना चाहते हैं, कमलेश्वर उसे गुमशुदा बना कर मारना चाहते हैं।

राजकमल अपनी कहानियों में काले पत्थर की खुरदुरी बदशक्ल मूर्तियाँ गढ़ता रहा—मगर इन्हें उसने खंडहरों से नहीं निकाला था, समकालीन जीवन से निकाला था और उसकी मंशा क़तई उन्हें संग्रहालय की चीज बनाने की नहीं थी। वह इनकी जिन्दगियाँ वापस देना चाहता था। उसकी यही रचनात्मक पीड़ा थी, दानवीय चेष्टा थी। तस्वीरें गढ़ने का राजकमल को शौक था, सनक की हद तक। बड़ी सफ़ाई से वह अपने रचना-कर्म के सम्बन्ध में कहता है : 'परिस्थितियों की घन-कोणात्मक आकृतियों और समय-खंडों को (वह) व्यक्ति-समूहों में बदल देता है—बदल देने की दानवीय चेष्टा करता है।' राजकमल की कहानियाँ अतिकाय दुःस्वप्नों की कहानियाँ हैं। इन अतिकाय दुःस्वप्नों की कहानियाँ वह क्यों लिखता है ? वह कौन-सी ज़मीन है, जिस पर ये अतिकाय दुःस्वप्न उसे जिन्दगी की हलचलों से जोड़ देते हैं ? जीवन के इस अव्याख्येय औचित्य को रचना-कर्म के द्वारा वह समझने की बेहतर चेष्टा करता रहा—अपनी कहानियों में सबसे ज्यादा। उसने अपने रचना-कर्म के सम्बन्ध में एक और महत्वपूर्ण बात कही है : 'लेकिन कहानियों में उसने हमेशा अपने को व्यक्तियों और उनकी स्थितियों से घिरा पाया है।'

[illegible] नैतिक दायित्व की [illegible] किये बग़ैर जब कोई [illegible] अपनी रचना में व्यतिक्यों और उनकी वास्तविक परिस्थितियों से घिरे होने की विवशता को स्वीकार करता है, तब मानना चाहिए कि उसमें नैतिक साहस और स्वीकृति का अभाव नहीं है। फैण्टेसी, रिपोर्ताज और दूसरे कई माध्यमों की मिली-जुली कथा-शैली में लिखते रहने के कारण राजकमल अपनी कहानियों में उलझन पैदा कर देता है। मगर उलझन रचना को बेमानी नहीं करती, आलोचना पर आक्षेप करती है। 'खामोश घाटियों के साँप', 'वेणी-संहार' और 'सामुद्रिक' जैसी कहानियाँ इसी उलझन के बीच एक व्यापक जीवन-सत्य का बोध कराती हैं। जैसा मुझे लगता है, राजकमल के साथ उसकी कहानियों में भी लोगों ने सेक्स का आतंक और मिथ जोड़ दिया है। राजकमल सेक्स नहीं लिखता,

यानी अलग से सेक्स नहीं लिखता। जीवन की संवेदना में—प्रवाह या ठहराव के बीच—सेक्स कहीं होता है। होता है तो रहे, राजकमल अपनी कहानियों से इस होने को बलात् अलग नहीं करेगा। इतना शाकाहारी वह नहीं है। मगर जिन लोगों ने उसकी कहानियों के साथ सेक्स का आतंक जोड़ा है, वे उसकी कहानियों पर भी नजर दें। 'पिरामिड', 'चलचित्र चंचरी', 'मदालसा सुन्दरम्', पत्थरों के नीचे दबा हुआ हाथ', 'गाँजा मिलानी', 'वेणी-संहार' और न जाने कितनी दूसरी कहानियाँ हैं, जो इस मिथ के टुकड़े कर देती हैं। यहाँ 'पिरामिड' से एक उदाहरण लें। 'पिरामिड' के पारिवारिक वातावरण में एक आतंक है, मगर यह आतंक सेक्स का नहीं है। रसिकलाल उस काली कम उम्र लड़की और अपनी पत्नी के बीच कई रिश्ते बनाता है। कम से कम उस काली लड़की से तो उसका रिश्ता शुद्ध व्यावसायिक है। कुम्मी में सेक्स नहीं है, व्यवसाय है। लगभग वैसा ही प्रच्छन्न व्यवसाय मुनिया के हाव-भाव में है। रसिकलाल के हाथ का दबाव महसूस करती हुई कुम्मी उत्तेजित नहीं होती। उसी तरह रसिकलाल की चिकोटी से मुनिया उत्तेजित नहीं होती। कुम्मी सादगी से कहती है : 'मुझे जल्दी फ़ुरसत दे दीजिये।' एक व्यावसायिक रटा-रटाया जुमला--न बड़ा और न छोटा। कुम्मी शरीर का व्यवसाय नहीं करती। हाँ, उसके व्यवसाय में शरीर बिक सकता है। ये अलग-अलग बातें हैं और कुम्मी इन्हें अलग-अलग ही रहने देना पसन्द करती है। हम अपने अपने पिरामिडों के भीतर क़ैद हैं, ममी की तरह, रसिकलाल की तरह, कुम्मी, मुनिया और जयमाला की तरह। हम अपने पिरामिडों को तोड़कर ताश के बाक़ी पत्तों में मिला देना चाहते हैं। यह नहीं मिला पा सकने का आतंक हम सब पर है। इस आतंक की एक जीवन-व्यापी स्थिति है, इसे सेक्स से जोड़ना एक आतंकित भय के सिवा कुछ नहीं है। रसिकलाल जीने का जादू जानता है, ताश के पिरामिड बना-तोड़ सकता है, मगर वास्तविकता से घिर कर इन्हीं पिरामिडों में उसका जादू गुम भी हो जाता है। जयमाला पत्थर या काली सख्त लकड़ी की तरह ताश के पिरामिडों के भीतर से उभर आती है—आदमक़द यंत्रणा बन कर, पूरी वास्तविक, ठोस ! जीवन की छोटी-छोटी सच्चाइयों से घिरे मध्यवर्ग का जीवन, उसमें सूराख की तरह निकाले गये तंग रास्ते, उत्तेजना की गलियाँ और ठोस वास्तविकता से घिरी परिस्थितियाँ—राजकमल की कहानियाँ सेक्स से ज्यादा मध्यवर्ग के जीवन के इन पहलुओं से बनती हैं।

'खामोश घाटियों के साँप' और 'सामुद्रिक' जैसी कहानियों को यदि अपवाद मान लिया जाय, तो राजकमल की शेष कहानियाँ 'नयी कहानी' की पूरी बनावट से अलग हैं। क्या कारण है कि नयी कहानी के भाव-बोध, पैटर्न, भाषा और स्थापत्य के भीतर राजकमल की कहानियाँ नहीं अँट सकीं? डॉ० नामवरसिंह से लेकर कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव तक की यत्र-तत्र-सर्वत्र लिखी टिप्पणियों में कहीं राजकमल का जिक्र नहीं आया? रमेश बक्षी, दूधनाथसिंह, शानी और कुछ दूसरे लेखक क्या इस दृष्टि से नयी कहानी से ज्यादा क़रीब नहीं हैं? स्पष्ट है कि राजकमल की कहानियाँ 'नयी कहानी' की सीमा में अंट नहीं पातीं, ठीक उसी तरह, जिस तरह, अमरकांत, मार्कण्डेय और मन्नू भंडारी की बहुत-सी कहानियाँ एक दूसरे अर्थ में 'नयी कहानी' के पैटर्न में खप नहीं पातीं! कमलेश्वर के ऐसे अनगढ़ जुमले के बावजूद—कि नई कहानी ने केन्द्रीय व्यक्तियों (?) की तलाश की—नयी कहानी उन व्यक्ति-समूहों को नहीं ढूँढ सकी, जो घटनाओं और परिस्थितियों के केन्द्र में बार-बार लौट रहे थे। इस अर्थ में मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा, उषा प्रियम्वदा आदि की कहानियाँ अपने अधूरेपन का पूरा-पूरा अहसास हमें कराती हैं। राजकमल की कहानी 'मदालसा सुन्दरम्' से राजेन्द्र यादव की कहानी 'एक कमजोर लड़की की कहानी' या मोहन राकेश की 'मिस पाल' से तुलना करने पर बात स्पष्ट हो जाएगी। तीनों ही कहानियाँ व्यक्ति के मानसिक अन्तर्विरोधों की कहानियाँ हैं। ये अन्तर्विरोध आज के मध्यवर्गीय जीवन के हैं। 'कथ्य' को लेकर किसी प्रकार की टिप्पणी नहीं करूँगा। वैसे शिल्प की दृष्टि से तीनों ही कहानियाँ किसी न किसी रूप में नाटकीय अतियोजनाएँ हैं, मगर फिर भी इनका प्रभाव अलग-अलग है। राजेन्द्र यादव की कहानी कुंठा पैदा करती है। यही स्थिति मिस पाल की है। मगर मदालसा सुन्दरम् की नायिका में कुंठा नहीं है, अपने विरोध को स्वीकार कर वह उससे ऊपर उठ जाती है। इसके कारण की खोज करने में कोई झटके की बात नहीं करूँगा। मैं जासूस आलोचक नहीं हूँ। राजेन्द्र यादव और राकेश की कहानियाँ इसलिए ऐसा प्रभाव डालती हैं कि एक दुहरी जिन्दगी का झूठा-सच उनके (कथा पात्रों के) मानसिक अन्तर्विरोध का कारण बन जाता है। मदालसा सुन्दरम् ऐसी दुहरी जिन्दगी के झूठ की कहानी नहीं है, वस्तुतः वह झूठ का नाटक है ही नहीं? राजकमल एक झूठ की जिन्दगी का भोगा हुआ सत्य नहीं कह पाता। बकौल राजेन्द्र यादव : 'जहाँ शब्द हैं, लेकिन सम्प्रेषण नहीं है, वहाँ अनुभूति और अनुभव का केवल अनुमान है।' सचमुच अनुमान को अनुभव कहकर कहानियों का सत्य गढ़ा जाता रहा और प्रचारित यह किया जाता रहा कि कहानी प्रामाणिक भोग की है। वैसे अनुमान का भी भोग किया जाता है, मगर अनुमान के रूप में ही। राजकमल की मदालसा चूँकि आख्यायिकाओं की मदालसा नहीं है,

इसलिए वह अनुमान का विषय नहीं है। मदालसा के लिए देह, भावना, बुद्धि के सारे रास्ते खुले हैं। यही उसकी सच्चाई का मर्म है।

जिन कहानीकारों ने 'खोज का भ्रम पैदा किया, उन्होंने ही स्वीकृति-अस्वीकृति को मार्ग की मनःस्थिति भी बनाया। राजकमल की कहानियाँ गति का भ्रम नहीं गढ़तीं। उनमें एक अजीब-सा ठहराव होता है। वस्तुतः हमारी स्थिति पहचानने की है, खोजने की नहीं। खोज का सही और वास्तविक अर्थ भारत की भावी पीढ़ी तय करेगी। अगर हमें ऐसा कुछ भ्रम हो तो उसे हम दूर कर लें। स्थितियों से घिरा होना ही हमारे लिए उतनी बड़ी सच्चाई है कि हम इन ठोस स्थितियों से भाग कर ढूँढने का भ्रम नहीं पाल सकते। एकबारगी ही ये स्थितियाँ हमारी मानवीय वास्तविकता को गलत कर रही हैं। हमें अपने को ग़लत नहीं होने देना है। यही हमारा तात्कालिक संघर्ष है। राजकमल की कहानियाँ इस संघर्ष की तत्परता की कहानियाँ हैं। राजकमल की कहानियाँ स्थितियों का घोषणा-पत्र नहीं हैं।

नयी कहानी की चर्चा के क्रम में जिन कहानियों को बार-बार दुहराया गया है, उन पर एक नज़र दूँ। 'गुलरा के बाबा' के बाबा, 'देवी की मां' की मां, 'आर्द्रा' की मां, 'कर्मनाशा की हार' के त्यागी वृद्ध''''इनमें हमारा सत्य कहाँ है? इन्हें अपनी भावुकता की रौ में तथाकथित नये कहानीकार क्या मृत्योपरान्त सत्ता (पोस्थोमस एक्ज़िस्टेंस) नहीं दे रहे? क्या इनको तथाकथित भव्यता हमारे लिए एक 'डेडवेट' नहीं है? राजकमल मृत्यु के बाद की सत्ता के लिए चिन्तित नहीं है''''वह चिन्ताग्रस्त है तो अपनी परिस्थितियों के सन्दर्भ में, उसके भीतर जीने वाले लोगों के लिए। इन कहानियों की तुलना में 'गदल' सचमुच ही अच्छी कहानी भी है और जीवन्त पात्र भी।

काल के बाहर के स्वप्न-संसार में [illegible] की दिलचस्पी [illegible] नहीं दीख पड़ती। हाँ, अपनी कहानियों में इस स्वप्न-संसार को काल की संवेदना देकर उतारने की ऐन्द्रजालिक चेष्टा ज़रूर उसने की है। **समय-खंड को व्यक्ति-समूह में बदल देने का यही अर्थ है?** समय को आदमी की राह से पहचानने का यह तरीका सही तरीका नहीं है, ऐसा कौन कहेगा? अपनी कहानियों में व्यक्तियों और उनकी मूर्त्त स्थितियों से घिरा रहने वाला राजकमल चौधरी मृत्यु-भार नहीं ढोता, उसे यह पसन्द नहीं है। मुझे उसकी कहानियों के अम्बार में कहीं ऐसी कोई कहानी नहीं मिलती, जिसमें यह 'नास्टेलिजक' लगाव कहीं व्यक्त हुआ हो। अपने वर्त्तमान को देखता हुआ राजकमल आवेश का शिकार नहीं हुआ है, ऐसा नहीं कहूँगा। 'खामोश घाटियों के साँप' एक ऐसे ही भावात्मक आवेश की कहानी है। मगर ऐसा बहुत नहीं हुआ।

मिथ्या के प्रति विद्रोह यदि हमारी विरासत है, तो इसका हकदार दूसरे कई कहानीकारों के साथ राजकमल चौधरी भी हैं। अक्सर लोग इसे नज़रअन्दाज़ करते आये हैं। मैं लोगों का ध्यान राजकमल की कहानियों के सन्दर्भ में उसके इसी हक की ओर ले जाना चाहता हूँ। डा० नामवर सिंह की शब्दावली लेकर कहना हो तो कहूँगा कि कहानियाँ तथ्यवाद की 'अपराधी अन्तरात्मा' नहीं हैं। उसने न तो आधुनिकता का स्थूल सूचीपत्र तैयार किया है और न अनुभव-तन्तुओं का इन्द्रजाल। उसकी कहानियाँ सीधे उस व्यवस्था से टकराती हैं, जिसमें जीवन गलत किया जा रहा है—नैतिकता, व्यवस्था कानून और प्रजातंत्र के नाम पर। राजकमल की कहानियों में ऐपीफ़ैनी नहीं है। संकेतार्थों से काम चलाना उसे प्रियकर नहीं है। निर्मल वर्मा, श्रीकांत वर्मा, रमेश बक्षी और दूधनाथ सिंह की कहानियाँ संकेतार्थों का जाल बुनती हैं—अनुभव-तंतुओं का संयोजन करती हैं। 'खामोश घाटियों के साँप' को अपवाद मान लिया जाय तो ऐसी कहानियाँ राजकमल ने प्रायः नहीं लिखीं। अपने समय के लिए संकेतार्थ गढ़ने के बजाय राजकमल उसे अपने पात्रों की स्थितियों में मूर्त्त करना ज्यादा कारगर समझता है। यह दूसरी बात है कि ऐसी मूर्त्त स्थितियाँ उसमें बहुत विविध और यौगपदिक परिदृश्य वाली नहीं हैं। अन्य समकालीन कहानीकारों में भी कहाँ हैं? समय के प्रतीकों में राजकमल की दिलचस्पी नहीं है, वह उन्हें पात्रों के व्यापार में बराबर ढालने की सार्थक चेष्टा करता है। 'पत्थरों के नीचे दबा हुआ हाथ' व्यक्ति-व्यापार की राह समय को आपत करने का उत्कट प्रयत्न है। अन्य कहानियों में भी ऐसे प्रयत्न देखे जा सकते हैं, जो कि यह भी एक सच्चाई है कि अपने इस प्रयत्न में उसे हर स्तर पर सफलता नहीं मिली। **कुछ कहानियाँ इस प्रयत्न में फिल्म फ़ीचर** [illegible] उनका [illegible] की एकरसता में कहीं खो गया। 'बाईस रानियों का बाइसकोप' एक ऐसी ही लम्बी कहानी है। इस कहानी की तुलना में 'ट्रेल की बीवियाँ' (पहली कहानी) आज भी अधिक ताज़ा कहानी है।

देह राजकमल के लिए अमूर्त्त सम्मोहन नहीं है। देह को उसने खुद भी कई ठोस स्थितियों के भीतर देखा था और वैसे लोगों को भी देखा था, जो इन स्थितियों के भीतर थे। फलतः देह के प्रति उसमें व्यामोह अथवा संभ्रम-जन्य उत्सुकता नहीं है। **देह की स्थितियों के अमानवीय और निष्करुण रूप को जैसी 'मेल आइडेण्टिटी' उसने दी, वैसी दूसरे नहीं दे पाये; न मुद्राराक्षस, न रवीन्द्र कालिया, न ज्ञानरंजन!** उसकी देह गाथाएँ आंतरिक सूचनाएँ देने का बहाना मात्र नहीं हैं। इन सूचनाओं में उसे कोई

दिलचस्पी नहीं थी, इसे मैं जानता हूँ।

कहानीकार युग के सवालों को इतिहासकार की तरह निर्वैयक्तिक बना कर हल नहीं कर सकता। राजकमल अपनी कहानियों के माध्यम से मध्यवर्ग का इतिहास नहीं लिख रहा था। वस्तुतः इन सवालों का ऐतिहासिक निदान ढूँढने में उसे गहरी दिलचस्पी भी नहीं थी। फिर भी उसकी कहानियों में मध्यवर्ग का एक सहज परिचय है, जो राजेन्द्र यादव की इधर की कहानियों से ज्यादा सघन और मूर्त्त है। वस्तुतः समय को व्यक्ति-समूहों में बदल देने में उसे बेहद सफलता मिली है। कहानीकार राजकमल आदमी की पहचान से ही इतिहास को पहचानता और मूर्त्त करता है। उसकी दिलचस्पी ठोस स्थितियों से घिरे हुए लोगों में है। प्रतीकों की लम्बी शृंखला गढ़ने वाले कहानीकारों की दिलचस्पी स्थितियों के संकेत-ग्रहण में होती है—स्थितियों से घिरे व्यक्ति-समुदाय में नहीं। इसीलिए अमूर्त्त का आग्रह उन्हें ही होता है। **इस अमूर्त्त को वे कभी प्रतीकों के माध्यम से पकड़ना चाहते हैं, कभी उसे ध्वनि-चित्रों में और कभी स्थान-पात्र-काल के कविता-प्रवाह में।** लय का आग्रह उन्हें ही सबसे ज्यादा होता है, कहानीपन की झूठी माँग भी। **ध्वनियों के प्रभाव से वे जीवन को बदलना चाहते हैं।** राजकमल अपनी कहानियों में जीवन का ऐसा सस्ता सौदा नहीं करता, क्योंकि उसे कलाकार होने का प्रमाद नहीं है। उसे जीवन को किसी क़ीमत पर बदलना स्वीकार नहीं है। जीवन जैसा भी है, उसके लिए वही काफ़ी है—अपने प्रकृत रूप में। इसीलिए राजकमल की कहानियों की भाषा गद्य की भाषा है, कविता से उधार ली गई भाषा नहीं। अपने गद्य की पंक्तियाँ तोड़ना भी उसे स्वीकार नहीं है। भाषा के मामले में राजकमल [illegible] उसका सहज रूप उतर आया है।

बावजूद इसके, राजकमल की कहानियों में एक तीखा अन्तर्विरोध है। मैं इस अन्तर्विरोध को आभास मानने की स्थिति में नहीं हूँ। यह विरोध उस संवेदना के भीतर का है, जिसके हम सभी शिकार हैं। जब कहीं वह इस अन्तर्विरोध के एक या दूसरे पहलू पर अनावश्यक बल देकर लिखने लग जाता है, तभी उसकी कहानियाँ इलहाम का आभास देने लगती हैं। मगर सौभाग्य से ऐसी कहानियाँ बहुत अधिक नहीं हैं। अपने वयस्क समकालीनों की तुलना में उसने सचमुच बहुत कम ऐसी कहानियाँ लिखी हैं। वह इस अन्तर्विरोध को नाटकीय संवादों और कविता के वक्तव्यों में नहीं बदलता। कविता की भाषा में नाटक के संवाद राजेन्द्र यादव-कमलेश्वर-राकेश-निर्मल वर्मा-उषा प्रियंवदा की कहानियों में शायद इसी समकालीन जीवन के अन्तर्विरोध को गाढ़ा करने के लिए आये हैं। 'एक कमज़ोर लड़की की कहानी', 'छोटे छोटे ताजमहल', 'खुले पंख टूटे डैने', 'ग्लासटैंक', 'परिन्दे' जैसी कहानियों में यह स्वर कई कई उपचारों से व्यक्त हुआ है। कहानियों की बात छोड़ भी दें तो क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि जो आरोप जैनेन्द्र ने कलकत्ता-गोष्ठी में कमलेश्वर पर लगाये थे, वे ही आरोप आज कमलेश्वर हमारी पीढ़ी पर लगा रहे हैं। इलहाम का स्वर इस बार कमलेश्वर का है।

मध्यवर्गीय जीवन के ये अन्तर्विरोध चाहे जिस भी अनुभव-क्षेत्र या स्तर के हों, मगर कहानी के कथ्य के रूप में उनका महत्व अस्वीकारा नहीं जा सकता। प्रामाणिकता की बात भी इसी सन्दर्भ में उठी या उठाई गई। लोगों ने अपनी-अपनी ओर से प्रामाणिकता की व्याख्याएँ कीं। राजकमल ने अनुभव की प्रामाणिकता का सवाल उठाया ही नहीं और उठाया भी तो दूसरे उत्तर के लिए। मुझे ऐसा लगता है, जैसे राजकमल लेखन को झूठ मानने की स्थिति में था ही नहीं। **वैसे भी प्रामाणिकता राजकमल के लिए प्रश्न नहीं थी, उत्तर थी। और अपनी कहानियों के माध्यम से वह उत्तर दे रहा था।** राजकमल की कहानियों में आई मध्यवर्गीय ज़िन्दगी दिवा-स्वप्न नहीं है, बीमारी भी नहीं है।

हमारे काल-खंड की सबसे बड़ी घटना यह है कि समय हमारी वाचकता का अपहरण कर रहा है—हमसे हमारा नाम, हमारा व्यक्तित्व, हमारी निजता छीन रहा है। भीड़ की सभ्यता यही करती है, वह हमें 'अवाचक वे सभी' या यास्पर्स की शब्दावली उधार लूँ तो—'डास मैन' बना देती है। ऐसी स्थिति में **'सचेत वाचकता' का अकेला होना एक नियति है। राजकमल एक ऐसी ही अकेली नियति का नाम है।** 'पत्थरों के नीचे दबा हुआ हाथ' ऐसी ही अकेली नियति की कथा है। राजकमल का अशान्त और संभ्रमित होना इसी [illegible] वास्तविकता का एक पहलू है। **इस संभ्रम की स्थिति को राजकमल अपनी कहानियों में तोड़ सका था, इसे मानना मेरे लिए सम्भव नहीं।**

राजकमल की कहानियाँ पांडित्य-प्रदर्शन नहीं हैं (लेखों-टिप्पणियों की बात नहीं करता मैं)। व्यावसायिक मुहावरों का पंडित राजकमल कभी नहीं रहा, यह सेहरा हमेशा दूसरों के सिर बंधा। अपनी कहानियों में सचमुच वह जटिलता और कठिनता से बचता है। कहानियाँ उसके लिए केवल होने का प्रमाण नहीं हैं, **वे अनुभव के ताने-बाने के उस अर्थ को भी प्राप्त करने की चेष्टाएं हैं जिनके भीतर व्यक्ति अपने होने के हेतुओं की सही-सही पहचान पाता है।** इसी अर्थ में राजकमल कोरा अनुभववादी नहीं है। उसकी कहानियों को 'देह-गाथा' मानने वाले और प्रचारित करने वाले लोग आसानी के मारे

हुए है, यह उन्हें कौन समझाये ? संभोग करने की स्थिति में स्त्री से भाग कर
कहानियों में राजकमल स्त्री से संभोग नहीं करता। संभोग के बाहर भी स्त्री
उसकी कहानियों का विषय है, उसे कितनी कहानियों से उदाहृत करना होगा ?
कहानी के शिल्प को तोड़ने के क्रम में (क्योंकि नयी कहानी के तथाकथित
शिल्प में उसकी कोई दिलचस्पी नहीं थी) वह कभी-कभी बेहद सरल रिपोर्ताज
लिख मारता था। मैंने उसकी कहानी पर टिप्पणी करते हुए एक बार कहा
था : 'तुम कहानियों से रिपोर्ताज का काम बहुत ज्यादा लेने लगे हो।' उसने
उत्तर में कहा था : 'कृशनचंदर को पढ़ने के बाद तुम्हें अपनी राय बदल लेनी
चाहिए। शुक्र है कि मैं कुछ लेखकों की तरह कहानी से नौटंकी का काम
नहीं लेता।' स्पष्ट है कि अपने वयस्क समकालीनों के कथा-शिल्प को
राजकमल स्वीकार नहीं कर सका। कम से कम अपने विषय के लिए उसे यह
शिल्प निहायत फालतू और अधूरा मालूम पड़ता था। उसकी यह कमजोरी
थी कि अपनी कहानियों में वह कविता के मुहावरे नहीं भर सकता था। वाता-
वरण को जटिल करने के लिए दर्शन की भाषा भी नहीं थी उसके पास।
गहरे दार्शनिक आत्म-मंथन का आभास उसकी कहानियाँ नहीं देतीं।
उसके सपाट परुष और तल्ख गद्य में जो धार थी, वह उसका अनुकरण करने
वाले घटिया लेखक नहीं ला पाएँगे।

राजकमल का कहानी-साहित्य उस भीषण दुःस्वप्न की तरह है जिसमें दृश्य
तेज़ी से बदलते रहते हैं, और अपने बदलते हुए परिदृश्य की भयानकता, विचि-
त्रता से हमें कहीं उत्तेजित, कहीं अतिक्रांत और कहीं अभिभूत कर लेते हैं।
ये दुःस्वप्न कहीं हमें उस अमानवीय हद तक जड़ बना देते हैं, जहाँ आदमी
मृत्यु की प्रत्यक्षता को भोग रहा होता है या फिर उत्तेजना की उस हद तक ले
जाते हैं, जहाँ हम अतिमानवीय इच्छाओं के साथ लड़ाई प्रारम्भ करते हैं तथा
सारी आशाओं, साधनों और उपचारों में विश्वास खोकर अकेले हो जाते हैं।
किन्तु इस भीषण दुःस्वप्न के भीतर जिस ऐन्द्रजालिक विश्व में राजकमल
हमें उछाल देता है, वह हमारे आज के विश्व का सही, अतिकाय और दुःशं-
साओं से भरा रूप है, जिसकी यथार्थता अकेले अनुभव में सार्थक नहीं होती;
जिस अनुभव को पूरा करने के लिए राजकमल को पूरे समय-खंड को व्यक्ति
समूह में बदल देना पड़ता है—अनुभव के सम्पूर्ण स्रोत से जोड़ना पड़ता है।
यह हमारे समकालीन जीवन का कुल भयाक्रांत अनुभव है और इसे एक पूरी
पीढ़ी का सहयोग मूर्त्त करता है—चाहे यह मूर्त्त रूप कितना ही भयानक,
आतंककारी, उत्तेजक और वाइल्ड ऐक्शन से भरा हुआ क्यों न हो ? राजकमल
की कहानी में फैण्टेसी की ज़मीन इसी पाताल-लोक की संवेदना से हमें जोड़ती
है। जो लोग इस पीढ़ी के सहभोग के स्तर तक उतर कर इस भीषणता
और आतंक के भीतर जाना स्वीकार नहीं करते, उन्हें राजकमल की कहानियाँ
एक अतिकाय दुःस्वप्न की तरह ही सताएँगी। ● ●

एक अशरीफ कहानीकार : राजकमल चौधरी

धर्मेन्द्र गुप्त

●

'सामुद्रिक', 'जीभ पर बूटों के निशान', 'प्रतिप्रिया' आदि कहानियों के लेखक
राजकमल चौधरी ने उस समय कहानियाँ लिखना प्रारम्भ किया, जब कविता
को पीछे छोड़कर, और आंचलिकता के प्रभाव से भी अपने को मुक्त करके
कहानी शहर की सीमा में प्रवेश कर चुकी थी। बहुत खामोशी से राजकमल ने
कहानियाँ लिखना शुरू किया। प्रारम्भिक कहानियाँ कलकत्ता महानगर पर ही
लिखी गयीं, लेकिन बिना किसी वक्तव्य के, बग़ैर किसी पूर्व आडम्बरपूर्ण घोषणा
के। 'जीभ पर बूटों के निशान' कहानी १९५६ में प्रकाशित हुई थी, फिर
'सामुद्रिक' और इसी प्रकार की दूसरी महत्वपूर्ण कहानियाँ····लेकिन इन मह-
त्वपूर्ण कहानियों का सिलसिला लम्बा न हो सका। १९६३ का वर्ष बीतते
न बीतते राजकमल ने अपने को ही कहानी बना डाला। वक्तव्य, लम्बे लम्बे
वक्तव्य, ऊबड़-खाबड़-सी लम्बी कविताएँ, ढेर पत्र, और कहानी के नाम पर
रिपीटीशन, बहुत ही मंजा हुआ रिपीटीशन।

लेकिन क्या कहानीकार राजकमल चौधरी इस दुर्भाग्य के लिए अकेला ही
जिम्मेदार है। बहुत सफाई से वह अपने को आंचलिक लेखक घोषित कर सकता
था, जब इलाहाबाद का अदना से अदना नौजवान हल और बैल का नाम जप
कर आंचलिक हो रहा था, उस समय गाँव में जन्मे राजकमल के लिए अपने को
आंचलिक घोषित करके पेशेवर आलोचकों से तमगा लेना कठिन न था। मगर
उसका रुझान शहर की ओर था और इस सच्चाई को वह अपनी कहानियों में

भुठला न सका। शायद उस समय राजकमल भावुक भी था। तभी तो उसने यह सोचा कि उसकी अच्छी कहानियों को पढ़ कर पेशेवर आलोचक उसकी प्रशंसा करेगा। मगर वह यह भूल गया कि हिन्दी के पेशेवर आलोचक का पहला धर्म राजनीति ही है। इसीलिए वह अवसर मिलते ही कम्यूनिस्ट पार्टी के टिकट पर पार्लियामेण्ट का चुनाव लड़ता है और फिर वहाँ हार जाने और जमानत जब्त हो जाने के बाद जीवित रहने के लिए साहित्य में आ जाता है। भले ही उसकी यह अवसरवादिता कितने ही भावुक लेखकों के लिए मरण का कारण ही क्यों न हो जाये! राजकमल पुरुष था, और इसीलिए उसने बदला लिया। उसकी कलम से वह सब सामने आया, जिसको देखकर परम्परावादी लोग कानों पर हाथ रखने लगे। उसके वक्तव्यों ने सभी को चौंकाया। उसकी शराब, भांग, और चरस पीने की गाथाओं ने लोगों को उसकी ओर मोड़ा। अपने पत्रों से उसने अनेकों को अपने बारे में सोचने पर मजबूर किया, और तब पेशेवर आलोचक के हजार बार नकारने पर भी राजकमल चौधरी चर्चा का विषय बन गया। हाँ, इस सब के बीच वह कहानी लिखना छोड़ चुका था, क्योंकि कहीं न कहीं उसके मन में बदले की भावना थी–कहीं न कहीं वह हर तरह के वार से षडयन्त्र को तोड़ देना चाहता था।

बहुत कम समय दिया राजकमल ने अपनी कहानियों को। लेकिन शायद वह उन सभी तथाकथित आंचलिक, कस्बे और शहरी कहानीकारों से आगे है, जिन्होंने कागज़ तोल तोल कर और हर अच्छे बुरे नाम से अपने को छपाया। उसके कहानीकार ने कलकत्ता को पृष्ठभूमि में रख कर लिखना शुरू किया। 'जीभ पर बूटों के निशान' उस स्थिति की कहानी है, जिसमें इन्सानी रिश्ते सतही हो कर रह गये हैं। चार पात्र हैं कहानी में। चारों सारी बात को अपनी ओर मोड़ना चाहते हैं। उनकी हँसी में, उनके देखने-परखने में, उनकी बातचीत में, सिर्फ उतनी ही दूर तक अपनत्व है, जहाँ तक कि उनका स्वार्थ है। जिन्दगी टूट चुकी है, उसे जोड़ने की भावुकता कोई पात्र अपने अन्दर नहीं रखता। सिर्फ टूटा हुआ जो हिस्सा जिसके पास आता है, वह उस दूसरे टूटे हुए हिस्से से श्रेष्ठ बताकर अपने को अहमियत देना चाहता है, और इस अवसर को भी पाना चाहता है, जब कि दूसरा टूटा हुआ हिस्सा भी उसके कब्जे में आ जाये।

ग्रीनउड रेस्त्रां, चौरंगी रोड, वासुश्री सिनेमा, और इन सब के बीच जो वातावरण उभरा है, वह उन सबसे अलग है, जिसमें आधुनिकता, यथार्थ, आज के जीवन के नाम पर किशोर मन के लिजलिजे रोमांस का चित्रण किया जाता है।

'सामुद्रिक' राजकमल की दूसरी श्रेष्ठ कहानी है। बस पर चढ़ती लड़की से नायक के शरीर के छू जाने, कालेज के कोरीडॉर में चोरी छुपे मिल कर कुछ हंसने, आफ़िस की टाइपिस्ट से आँख लड़ने, या बहुत हुआ तो कल्पना में नायिका के प्रति एक 'फ्लाइंग किस' को ही सेक्स समझने वालों में अगर 'सामुद्रिक' की चर्चा न हुई या उसको तरह तरह के मुखौटे धारण करने वाले धुरन्धर लोग समझ न पाये, तो कोई आश्चर्य नहीं। विषय को उथले रूप से लेना राजकमल ने नहीं सीखा। सेक्स पर उसका अध्ययन गहरा था। सिर्फ सुनकर ही नहीं, गर्म और ठण्डे लोहे को छूकर भी उसने देखा था, इसलिए उसकी कहानी 'सामुद्रिक' अपने में एक अद्भुत रचना बन गई।

कहानी में सिर्फ तीन पात्र हैं, इनमें भी दो नारी पात्रों के मन का द्वन्द्व, उन के बीच उभर आया अलगाव, असमर्थता का बोध, और एक ऐसी स्थिति, जिसमें बहुत कुछ कहना चाहते हुए भी कुछ कहा नहीं जा सकता। राजकमल ने बहुत सधे शब्दों में इस सबका चित्रण किया। उसके पास विशिष्ट शैली थी, साथ ही कवि हृदय भी उसने पाया था, इसीलिए कहानी का ताना-बाना दीघा के समुद्र तट पर बुना गया। दूर तक फैला समुद्र का विस्तार, और किनारे पर असहाय से खड़े हैं, 'सामुद्रिक' कहानी के तीनों पात्र।

यह कहानी शरीर की भी कहानी कही जा सकती है। मगर इस कहानी के लिए कोई भी अश्लीलता का आरोप नहीं लगा सका। यह निसन्देह एक षडयन्त्र ही माना जायेगा कि राजकमल को अगर याद भी किया जाता है, तो 'जलते हुए मकान के लोग' या फिर 'भूगोल का प्रारम्भिक ज्ञान' से। जब कि सही ये है कि यह कहानियाँ नहीं, सिर्फ राजकमल का आक्रोश है, जो उसने उन सभी के प्रति व्यक्त किया है, जिन्होंने आज हिन्दी कहानी को राजनीति में तरह तरह के नारे देकर उलझा दिया है।

राजकमल ने शहरों पर कहानियाँ लिखीं। राजकमल ने कहानियों में सेक्स को प्रधानता दी। राजकमल ने जवान शरीर को अपनी पैनी नजर से देखा। लेकिन इस सब के बीच उसकी लेखनी की परिपक्वता ही सामने आई। वह उन थोड़े से हिन्दी कथाकारों में से एक है, जिन्होंने मध्ययुगीन तरल रोमांस से कथा को मुक्ति दिलाई। यह भी कितना विचित्र है कि जो लोग कभी कम्यूनिस्ट पार्टी के चवन्नी के मेम्बर थे और प्रगतिशील होने का दावा करते थे, उन्होंने अपने अन्दर छिपे बोर्जुआपन के कारण, या कि अपने शरीर की हीनता के कारण यौन जीवन के सतही उदाहरण प्रस्तुत करके तथाकथित 'नयी कहानी' के लेखक होने का दावा किया, जब कि राजकमल चौधरी, जो न केवल अपने कथ्य, वरन, अपनी अभिव्यक्ति, के कारण एकदम ताजा और आधुनिक लेखक

था, 'पुरानी नयी', किसी भी कहानी में उछाल न पा सका। लेकिन यह उसका दोष नहीं, दोष उसका यह है कि वह बहुत जल्द षडयन्त्र की स्थिति से उकता गया और बदला लेने के लिए तैयार हो गया।

'नदी बहती थी' धारावाहिक 'विनोद' पत्रिका में प्रकाशित हुआ। इस का केनवास बहुत विस्तृत था, मगर यह बाद को बहुत सीमित पृष्ठों में प्रकाशित हुआ, इसीलिए प्रारम्भ मन को जितना बांधता है, अन्त में उस सीमा तक पकड़ नहीं है। रचना को जल्द समाप्त कर देने के अनेक कारण हो सकते हैं। इसलिए रचना को इस दृष्टि से न देखकर, देखना यह है कि इसमें लेखक ने जिस वातावरण, जिन पात्रों को उभारा है, क्या वैसा अन्य भी मिलता है? राजकमल अपने पात्रों के साथ बहुत कठोर हो जाता था, यह रचना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। सारे आदर्शों के बाद आज का जीवन जितना तंग है, जितना रूखा और बेईमान है, उस सब का चित्रण इस लम्बी कहानी तथा राजकमल की दूसरी रचनाओं में मिलता है। 'जलते हुए मकान के लोग' कहानी में सम्भोग की क्रिया के बीच भी सारे पात्र एक दूसरे के प्रति क्रूर और तनाव के साथ अलग-अलग हैं। 'नदी बहती थी' में भी परम्परा से दिये गये रिश्तों के बाद, सभी एक दूसरे से अलग हैं। शरीर अगर कहीं एक दूसरे को जोड़ता भी है तो 'भूख' के कारण, जिसमें एक क्षण का मिलन अलगाव की बहुत बड़ी दूरी को जन्म देता है। एरिस्टोक्रेट समाज पर लिखी गई राजकमल की कहानियां व्यंग्य की कोटि में आती हैं, जहां सभ्यता के नाम पर वहशीपन है, जहां संस्कार और परिवार के नाम पर सिर्फ कमीनापन ही बाकी बचा है। राजकमल उन लेखकों का प्रतिनिधित्व करने की सामर्थ्य रखता है, जिन्होंने किसी से उधार लेकर अपने को अलंकृत करने का प्रयास नहीं किया। उसके लिए सबसे बड़ी गाली थी: 'प्रेमचन्द की परम्परा'। और यह उस समय उसके लिए गाली थी, जब कस्बे और गांव के लेखक का बिल्ला लगाकर लोग प्रेमचन्द की परम्परा की गाड़ी खींच रहे थे। आधुनिकता की पहली शर्त विद्रोह है। और अगर राजकमल में किसी दूसरे रूप में विद्रोह न देखने का आग्रह ही मन में समाया हुआ है, तो भी इतना तो देखा ही जा सकता है कि उसने कभी भी शरीफ आदमी बनने की कोशिश नहीं की। हिन्दी में बंगाल की भूखी पीढ़ी के लिए उसी ने प्लेटफार्म तैयार किया। यानी कहीं न कहीं वह उस विद्रोह का समर्थक था, जिसके नाते 'बंगाल की भूखी पीढ़ी' के नौजवानों ने अपने को आगे बढ़ाया।

राजकमल आज अपने मूल्यांकन के लिए किसी से भी आग्रहशील नहीं है, पर उसकी वे सारी कथाकृतियाँ 'मूल्यांकन' शब्द के लिए कसौटी बन गयी हैं, जिनको उसने अपने खरे लेखक मन से रचा है। ● ●

राजकमल चौधरी के उपन्यास

मधुरेश

●

नयी पीढ़ी के लेखकों में राजकमल चौधरी का लेखन सर्वाधिक विवादास्पद रहा है और यह कहना बहुत हद तक सही है कि अपने साहित्य और स्वयं अपने बारे में भी, बहुत से विवादों और गलतफ़हमियों को फैलाने की जिम्मेदारी स्वयं उनकी है। जब कोई नया रचनाकार स्थापित मूल्यों के अस्वीकार की भंगिमा अपनाता है या सब कुछ के प्रति एक निहायत उदासीन रवैया अख्तियार करता है तो उसकी बात समझ में आती है लेकिन जब वह सारा कुछ अनुभूतियों के जीवन्त संस्पर्श के अभाव में महज चमत्कार और ज्ञान-प्रदर्शन के लिए किया जाता है तो तेज़ी से होने वाले व्यक्तिगत और सामाजिक परिवर्तनों एवं संक्रमण को व्यक्त करने वाले हाड़-मांस के सामान्य मनुष्यों के स्थान पर ऐसे पात्रों की सृष्टि होने लगती है जिनकी कोई सामाजिक भूमिका नहीं होती और उनके माध्यम से यदि किसी नैतिक या सामाजिक स्खलन को स्पष्ट करने की कोशिश की भी जाती है तो वह अधिकांश में नकारात्मक होती है। और फिर यह तो और भी अजीब लगता है कि संक्रमण की इस भयावह स्थिति में नये मूल्यों की आस्थापूर्ण तलाश के बजाय नया लेखक मूल्यों के प्रति सिर्फ उदासीन ही नहीं रहता बल्कि उनके अस्तित्व और आवश्यकता को भी नकारता है। और जब यह स्थिति पैदा होती है, नैतिकता उसके लिए गाली मालूम देती है और साहस को वह मानवीय दुर्बलता समझने लगता है। प्रेम, दाम्पत्य, सुख, परिवार और समाज जैसे शब्द आज के सन्दर्भ में निहायत अर्थहीन हो उठे हैं। बिखराव और दायित्वहीनता जैसे आज की जिन्दगी के सही पर्याय

है ?....बंधे रहने में क्या सुख है ? अगर धूमकेतु की तरह चमक कर बुझ जाने की सम्भावना हो, तो क्यों नहीं टूट लिया जाये ? क्या होता है प्रेम ? क्या होता है दाम्पत्य सुख ? क्या होता है परिवार ? क्या होता है समाज ? ....'[1] भविष्य की बात वह नहीं करता क्योंकि उसके लिए फिर उसे विश्वास और आस्था की बात करनी होगी, बीते हुए के प्रति कोई पश्चाताप भी उसे नहीं है। वह महज वर्तमान के लिए है : '....बीते हुए का पछतावा नहीं। आगे होने वाले की फिक्र नहीं। जीने का एक मात्र तरीका रह गया है वर्तमान को जिये जाना। पहले अंधेरा था। फिर अंधेरा होगा। अभी अगर रोशनी की एक हल्की-सी भी किरन बाकी है तो उसे जी लो। यह किरन ज़िन्दगी है। ये किरन....ये फूल'[2] अतीत और वर्तमान से कटकर क्षण में सीमित हो जाने का यह दर्शन कोई नयी चीज़ नहीं है। इसके प्रति आकर्षण और आग्रह का सबसे बड़ा कारण ही यह है कि वह व्यक्तिगत और सामाजिक दायित्वों की ओर से मुँह मोड़कर बिखराव और पलायन की सुविधा देता है।

राजकमल चौधरी का लेखन किन्हीं उपलब्धियों से अधिक सम्भावनाओं की बात कहता है। उनके कृतित्व का कोई रूप सुनिर्मित एवं सुस्थिर हो सकता, उससे पहले ही सब कुछ समाप्त हो गया, राजकमल के ही शब्दों में 'धूमकेतु की तरह चमककर बुझ गया....उनका अधिकांश लेखन पत्र-पत्रिकाओं में दबा पड़ा है। पुस्तक रूप में एक लम्बी कविता के अलावा चार-पाँच छोटे उपन्यास ही जैसे-तैसे उपलब्ध हैं। किसी निश्चित सूचना या जानकारी के अभाव में काल क्रमानुसार उन्हें देखकर लेखक के विकास सूत्रों को खोज सकने की स्थिति भी नहीं है। ऐसी हालत में उनकी उपलब्ध रचनाओं को लेकर उनकी मूलभूत विशेषताओं और सामान्य प्रकृति की चर्चा ही किसी हद तक सम्भव है।

उनके उपन्यासों में 'नदी बहती थी' ही सबसे पहले प्रकाशित है। उससे भी पूर्व वह धारावाहिक रूप से एक पत्रिका में छप चुका था। इससे यह अनुमान सहज है कि वह उनकी प्रथम रचना है। उस उपन्यास को पढ़ने के बाद, यदि तब तक राजकमल के और उपन्यास पढ़ नहीं रखे हैं तो, कुछ यह प्रतिक्रिया होती है कि जीवन के बहुविध अनुभवों के रूप में काफ़ी कच्चा माल लेखक के पास है। कला का अनुशासन और अनुभूतियों का संस्पर्श यदि वह विकसित कर सका तो आगे कभी कुछ महत्वपूर्ण चीज़ वह शायद दे सकेगा। लेकिन किसी भी प्रकार के विकास का कोई सुनिश्चित क्रम राजकमल के लेखन में कभी भी प्राप्त नहीं हो सका। लेखक की तरह बिखराव ही जैसे उसके लेखन की भी अनिवार्य नियति है। सोनाली और सोमेश गांगुली के रूप में काफ़ी कुछ सहज सामान्य-से पात्र उसमें थे। सामाजिक और राजनीतिक विसंगतियों के प्रति सिर्फ़ पैनी दृष्टि ही नहीं, वरन् उस सबसे जूझने की दृढ़ता भी सोमेश में थी इसीलिए शायद विमल ठाकुर ने उसके बारे में कहा था : 'ही इज़ ए वाइल्ड फ़ायर' नेताओं और राजनीतिक पार्टियों। पर लेखक ने खुलकर आक्रोश व्यक्त किया था और किसी हद तक सम्पूर्ण स्थिति के लिए एक सम्पृक्ति का भाव वहाँ विद्यमान है। लेकिन एक ओर उसमें जहाँ ये गुण थे, जो लेखक की सम्भावनाओं और क्षमताओं के प्रति विश्वास पैदा करते थे, वहीं उसमें राजकमल की वे सारी कमियाँ भी एक साथ उपलब्ध थीं जो आगे चल कर बहुत तेज़ी से पूरी तरह विकसित होकर उनके सम्पूर्ण लेखन पर छाती चली गयीं। शिल्प को लेकर उनमें ज़बरदस्त बिखराव है। साहित्य और फ़िल्मों के प्रति लेखक की गहरी रुचि है जिनसे वह अक्सर ही चमत्कार पैदा करने की कोशिश करता है और बहुत से ऐसे पात्र भी उसमें हैं जो जीवन्त अनुभूतियों के अभाव में चमत्कार की आतिशबाजी के अनार की तरह सुरसुराकर बुझ जाते हैं। एक ओर जहाँ उसमें जनता से जुड़ने की लालसा है, सोनाली, गांगुली, शेफाली, सुभाष आदि के माध्यम से, वहीं दूसरी ओर स्थापित मूल्यों के प्रति गहरा आक्रोश भी उसमें है। शिल्प के स्तर पर ही नहीं, जीवन में भी बिखराव और उत्तरदायित्व से पलायन के तत्व उसमें मौजूद हैं। दृष्टिहीनता को ही गर्व और गौरव की चीज़ समझने की भावना भी उसमें है। सोनाली के सौन्दर्य के सन्दर्भ में कहा गया है कि वह निरुद्देश्य है जैसे हर महान कलाकृति निरुद्देश्य होती है। इसीलिए सामाजिक विसंगतियों की चेतना और स्थापित मूल्यों के प्रति गहरे आक्रोश के बावजूद कोई जीवन-दृष्टि उसमें से उभर नहीं पाती है। लेकिन चूँकि वह जीवन से जुड़े रहने की चेतना से सम्पन्न है इसलिए इस कमी की ओर उस हद तक ध्यान नहीं जाता है। लेकिन उसके और आगे की कृतियों में जिनका लेखनकाल सिर्फ़ पाँच वर्षों तक सीमित है, यह अच्छे और शक्तिशाली तत्व विरल होते गये और बिखराव, पलायन, दृष्टिहीनता एवं चमत्कार प्रदर्शन के तत्व क्रमशः अधिकता से पाये जाने लगे। सामाजिक असंगतियों एवं स्खलन के दर्शन बाद में भी होते हैं लेकिन बहुधा ही वे अपने में साध्य बनकर आते हैं और उनकी दृष्टिहीनता एक अनिवार्य मूल्य-मूढ़ता को पैदा करने में सहायक होती है।

स्थापित सामाजिक मूल्यों के विरोध की स्थिति में लेखक को कभी-कभी ऐसा भ्रम भी होता है कि इस विरोध की चरम परिणति जैसे नंगापन ही है। और

१. नदी बहती थी—पृ. सं. २७
२. मछली मरी हुई—पृ. सं. ६३

तब तो यह स्थिति और भी भयावह हो जाती है जब वह नंगापन ही एक साध्य और मूल्य के रूप में स्वीकार किया जाने लगता है। जब कोई इस प्रवृत्ति का विरोध करता है तो आधुनिकता और विद्रोह की दुहाई दी जाती है, आलोचक पर पिछड़ेपन का आरोप लगाया जाता है और यदि सम्भव हुआ तो उसी दिग्गज लेखक-आलोचक के मन्तव्यों को मूल सन्दर्भ से अलग करके अपनी बात की दलील के तौर पर पेश किया जाता है। राजकमल चौधरी के 'एक अनार : एक बीमार' को लेकर बहुत कुछ यही स्थिति है। उसकी भूमिका में कहा गया है : 'ईश्वर और सीता के माध्यम से इसमें कलकत्ता के समकालीन मध्यवर्गीय जीवन को यथार्थ विरोधाभासों में लिखने की कोशिश हुई है। सच लिखना 'एक अनार : एक बीमार' के लेखक को बेहद पसन्द है। पैसों या प्रतिष्ठा के लिए मनगढ़न्त या झूठ लिखना उससे नहीं हुआ। सच लिखने में जो भी खतरे हैं, उसने बर्दाश्त किये हैं।'[1]....कोई आलोचक उसके नंगेपन को नंगापन न कह सके, इसलिए ऐसे आलोचक को 'नामर्द' या 'पुलिस मनोवृत्ति का आलोचक' कहकर उसका मुँह बन्द करने की कोशिश की गई है और अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिए निहायत गलत सन्दर्भ में, आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के कुछ वाक्य उद्धृत किये गये हैं। इसमें कोई शक नहीं कि 'एक अनार : एक बीमार' का मूल और वास्तविक कथ्य यही है कि अर्थभाव के कारण निम्न-मध्यवर्गीय लोगों को किस प्रकार कुत्ते बिल्लियों की ज़िन्दगी जीनी होती है—जिस पर उनका कोई वश नहीं होता और उससे निष्कृति की इच्छा भी फिर धीरे धीरे स्वयं ही मर जाती है। लेकिन इसके लिए पूरे उपन्यास में जो उपकरण जुटाये गये हैं, उन सबका हवाला देना भी नामुनासिब लगता है। सीता की ज़िन्दगी के उस नरक को जिन गन्दे शब्दों के ज़रिये और भी गन्दे ढंग से उजागर करने कोशिश की गई है, वे सब एक जगह तो शायद किसी कोकशास्त्र में भी न मिल सकें, वह सारा कुछ विकृत मनःस्थिति का ही सूचक है। उस सबके पीछे कोई प्रयोजन नहीं है। सस्ते स्तर का चमत्कार पैदा कर सकने के लिए वह सब कुछ किया गया है और यह देखकर सचमुच हैरत होती है कि ईमानदारी और निर्भयता की आड़ ले कर ऐसा विडम्बनापूर्ण नाटक भी खेला जा सकता है।

चमत्कार और ज्ञान-प्रदर्शन का यह आग्रह राजकमल में और भी कई स्तरों पर प्रकट होता है। कथ्य के स्तर से शुरू होकर उनकी भाषा-शैली और सम्पूर्ण अभिव्यक्ति की राह यह अर्थहीन लम्बी यात्रा चलती है। आज के जीवन में कथा-साहित्य की सार्थकता ही यह है कि संक्रमणशील व्यक्ति की जटिल से जटिल अनुभूतियों को उसमें बड़ी ईमानदारी और आश्चर्यजनक स्पष्टता से अभिव्यक्ति मिल सकी है। लेकिन जैसा कि कह चुका हूँ, जीवन के प्रति राजकमल का आग्रह उनकी पहली कृति के बाद से ही क्रमशः कम होता गया है। बाद की उनकी अधिकतर कृतियाँ शराबों के नामों, साहित्यिक एवं फ़िल्मी उपमाओं-सन्दर्भों, कलाकारों, संगीतज्ञों, या जहाँ भी जिसकी जैसी ज़रूरत हो, के नामों के अच्छे-खासे सन्दर्भ-ग्रन्थ सी हो गई हैं। ज़रूरत-गैरज़रूरत वह इन सब का उपयोग करते हैं। अपने पात्रों की आन्तरिक आवश्यकताओं का ध्यान उन्हें इतना नहीं रहता जितनी कि यह समस्या कि वह सारा कुछ जो उनके मन में है किस प्रकार बाहर निकल कर उनके सब कुछ जानने और पढ़े होने का रोब गालिब कर सके। जब भी ऐसी स्थिति आती है, कभी-कभी तो बेहद झुंझलाहट सी पैदा होती है। एक सृजनशील कलाकार के लिए सबसे अधिक अध्ययन मनुष्य की प्रवृत्तियों और अनुभूतियों का ही होना चाहिए। और यदि ऐसा न हो कर कदम-कदम पर यह अहसास बना रहे कि प्रामाणिक अनुभूतियों एवं जीवन के वास्तविक साक्षात्कार की अपेक्षा लेखक की रुचि दूसरी बेज़रूरत चीज़ों की ओर अधिक है तो खीझ की यह प्रतिक्रिया बड़ी स्वाभाविक-सी हो जाती है। नये लेखकों में सबसे अधिक यह दुर्बलता राजकमल में है और कभी-कभी तो वह लेखक द्वारा बड़ी मेहनत से निर्मित प्रभावों को बड़ी बेरहमी से झकझोर कर भूमिसात् कर देती है। 'बीस रानियों के बाइस्कोप' का शिवाजी सिंह फ़िल्मों के सस्तेपन के प्रति गहरी वितृष्णा रखता है गो कि अक्सर वह खुद भी वही सब कुछ करता रहता है। यह करना उसकी मजबूरी है क्योंकि जब कभी वह अपने सपनों और महत्वाकांक्षाओं की बात करने लगता है तो लोग समझते हैं कि वह अधिक पी गया है। कुन्दन से वह कहता है: 'ताकत तुममें है और मुझमें भी है लेकिन हम लोगों की पद्मिनी भाँड़ों के पाले पड़ गई है।'[1] लेकिन इन पीड़ा-पूर्ण विसंगतियों का प्रभाव जल्दी ही चुक जाता है जब उसी कहानी का नरेटर, होटल का बेयरा, बहुत-सी स्तरीय विदेशी फ़िल्मों के अलावा कालिदास, विद्यापति, महात्मा गाँधी, उमर खैय्याम और अरस्तु तक का ज़िक्र वैसी ही सहजता से करता है जैसे 'टिप' के पैसों का हिसाब कर रहा हो।

राजकमल का पूरा साहित्य इस दोष से भरा पड़ा है। ऐसा नहीं है कि उदाहरण के लिए इधर-उधर से तलाश करनी पड़े। किसी भी उपन्यास के किसी भी पन्ने पर वे आसानी से मिल सकते हैं :—

१. 'एक अनार : एक बीमार' की भूमिका

१. 'बीस रानियों का बाइस्कोप' : 'अणिमा' (त्रैमासिक, संख्या ३) पृ०सं०५५

(१) जिस कमरे में तस्वीर नहीं हो, मुझे वह कमरा घर-सा नहीं लगता....इच्छा हुई खुद ही तस्वीर बन जाऊँ। बेनो या रेनाँ या रूबेन्ज या माने की कोई पुरानी तस्वीर। और दीवार पर लटका हो जाऊँ.......[२]
(२) मीनल आड्रे होबर्न की तरह दुबली-पतली नहीं है। मोटी न सही, उसके अंग-अंग भरे पूरे हैं और इतने अल्प-वयस में वह पूरी औरत लगती है। अमृता शेरगिल के किसी सेल्फ पोर्ट्रेट की तरह.......[३]
(३) निर्मल आदमी नहीं है, भयंकर राक्षस है। यह आदमी नहीं है—यह महाकवि गोएथे का 'मेफिस्टो' है। शेक्सपीयर का 'ओथेलो'....एमिलब्रांटे का हेथक्लिफ....यह आदमी शैतान है।[४]

नाम गलत लिखे या छपे होने से यह झुंझलाहट और भी बढ़ती है और उपमाओं के रूप में इन साहित्यिक सन्दर्भों की अर्थहीनता तब आप ही स्पष्ट हो जाती है जब दूसरे पात्रों पर इनको लादकर उनकी अपनी मनस्थिति एवं मानसिक अपेक्षाओं और विकास के साथ मनमाना खिलवाड़ किया जाता है। उदाहरण के तौर पर निर्मल के बारे में जो भी कहा गया है, वह लेखक का अपना मन्तव्य एकदम नहीं है। उपन्यास के अन्त में निर्मल इसलिए दण्डित होता है क्योंकि वह व्यापार की दुनिया में गलत समझौतों से ऊपर रहकर नेक और ईमानदार व्यक्ति बना रहना चाहता है। उसके बारे में यह सारा कुछ सोचता है विश्वजीत मेहता जो एक धूर्त व्यापारी होने के साथ ही निर्मल का ज़बरदस्त प्रतिद्वन्दी भी है। ऐसी हालत में स्पष्ट ही यह लेखक की भावनाओं और विचारों का निहायत फूहड़ और अवैज्ञानिक प्रक्षेपण है। साहित्य में जब भी ऐसी स्थिति आती है, विकृत और विकलांग पात्रों के अलावा हमें कुछ नहीं मिल पाता है। कम से कम ऐसे पात्रों का सृजन असम्भव हो जाता है जो औसत व्यक्ति की औसत अनुभूतियों को व्यक्त कर सकें। 'मछली मरी हुई' के बारे में कहा गया है कि वह 'अर्थचक्र और लेस्बियाँ' के बारे में है—अर्थात् उसके दो पक्ष हैं, एक तो व्यापारिक दुनिया की नीचता और स्वार्थपरता की चीड़-फाड़ और दूसरे स्त्रियों के समलैंगिक सम्बन्धों का प्रकाशन। जहाँ तक व्यापारियों की पतित और भ्रष्ट दुनिया का सवाल है, सारी अतिरंजित और अविश्वसनीय बातों के बावजूद उसके पीछे प्रयोजन है लेकिन जहाँ तक स्त्रियों के समलैंगिक सम्बन्धों का प्रश्न है, क्या वह वाकई कोई ऐसी चीज़ है कि चूँकि हिन्दी में अभी तक ऐसी कोई चीज़

२. देहगाथा—पृ० सं० १८
३. देहगाथा- -पृ० सं० २०
४. मछली मरी हुई : —पृ० सं० ७९

नहीं है इसलिए उस बड़े अभाव की सम्पूर्ति होनी ही चाहिए? और कम से कम इस धरातल पर कोई मतभेद असम्भव है कि इसके अलावा भी उसके लिखे जाने की कोई सार्थकता है या स्वयं लेखक के मन में भी इससे भिन्न कोई प्रयोजन रहा है। उपन्यास के एक अध्याय में पूरे विस्तार और बड़े धैर्य के साथ, बहुत शोधपरक ढंग से, लेखक उन सारी किताबों की चर्चा करता है जिनमें स्त्रियों के समलैंगिक सम्बन्धों का जिक्र है। इन सारे चमत्कारों में उलझकर राजकमल हमेशा ही अपनी शक्ति का क्षय करते रहे हैं और चाहे शीरी या प्रिया हो या कल्याणी या फिर निर्मल पद्मावत हो या डॉ० रघुवंश किसी का भी चरित्र कोई प्रभाव नहीं छोड़ता है क्योंकि वे सब ही कथा साहित्य की अपेक्षाओं को पूरा करने में असमर्थ रहते हैं—यानी ये कहीं भी औसत आदमी की औसत अनुभूतियों को सहज-सामान्य ढंग से कहीं भी रेखांकित नहीं करते हैं। राजकमल चौधरी ने कल्याणी और निर्मल पद्मावत के बारे में खुद कहा है—अस्वाभाविक एवं काल्पनिक! प्रकारान्तर से, कुछेक अपवादों को छोड़कर, उनके सारे पात्रों के बारे में कमोबेश यही स्थिति है। जैसा कि स्वयं राजकमल के बारे में तरह-तरह की बहुत-सी बातें कही गईं, उनके जीवन के बिखराव और असन्तुलन को ले कर, उनके साहित्य के अधिकांश पात्र भी इन दो प्रवृत्तियों के शिकार हैं।

यह पलायन और बिखराव सामाजिक विसंगतियों की देन है, अधिकांश में उन विसंगतियों की चेतना भी राजकमल को है लेकिन उनकी कभी यह कोशिश नहीं रही कि उन विसंगतियों के मूल-भूत कारणों की खोज करके उन विकृतियों के खिलाफ किसी भी स्तर पर संघर्ष की कोई बात वह सोचते। ऐसा करने के बजाय उन्होंने शराब, अफीम, गाँजा या फिर ऐसे ही या इनसे मिलते-जुलते किसी और नशे में खुद को गर्क करके सब कुछ को भूल जाने की कोशिश की। 'शहर था शहर नहीं था' में उस सामाजिक स्खलन और नैतिक भ्रष्टाचार को सारी भयावहता के साथ उभार सकने के बावजूद उसकी कोई सार्थकता नहीं है। उसमें चित्रित जीवन महज़ सतही और अनुभूतिहीन है। यही कारण है कि बहुत से पात्रों के लम्बे-चौड़े जुलूसों के बावजूद वह कुछ नहीं है। इसका प्रमुख और सर्वोपरि कारण है कि लेखक कहीं भी स्थितियों से जुड़ना नहीं चाहता—सम्पृक्ति जैसे कोई अपराध हो। इस सिलसिले में उसके एक अन्य उपन्यास की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :
'....मैं कुछ नहीं कहता। कहने सुनने का पेशा मेरा नहीं है। मैंने सिर्फ देखा है और देखने वाली आँखें मेरी अपनी हैं और किसी दर्शन या सिद्धान्त से उधार ली गई नहीं हैं।....'[१] या फिर, '....सारी फिलासफी, सारे दर्शन-शास्त्र मिथ्या-

१. देह गाथा—पृ० सं० २९

कथाओं के बण्डल हैं ! सच सिर्फ इतना ही है कि हम सभी ताश के पत्ते हैं काण्ट्रेक्ट ब्रिज के पत्ते। हम नहीं खेलते, परिस्थितियां हम से खेलती हैं।....'[2] यह निष्क्रियता, उदासीनता और समाज से अर्थहीन अलगाव का दर्शन है। इसमें कहीं भी सामान्य व्यक्ति बने रहने की कोशिश नहीं है जिसका संकेत डॉ० रघुवंश ने निर्मल पद्मावत को लिखे अपने पत्र में दिया है। अपने लेखन को लेकर सब कहीं राजकमल ने इस आग्रह पर बल दिया है कि वह उसमें कहीं नहीं हैं—उसमें उन्हें तलाश करने की कोशिश न की जाये। लेकिन यह आग्रह केवल विचारों के धरातल पर ही पूरा उतरता है वैसे वह कभी भी कहीं हटते नहीं, हर क्षण हर जगह रहते हैं। देहगाथा में उनका यह आग्रह सबसे अधिक है (और यदि इसे उपन्यास की सफलता का पैमाना मानकर एक पुराने औज़ार के रूप में मेरे ही खिलाफ़ इस्तेमाल न किया जाये तो मैं तो कहना चाहूँगा कि वह कहानी बहुत कुछ आप-बीती सी है !) उसमें वीनस देव (कथा का नरेटर) से जो कुछ कहती है, वह राजकमल के प्रति किसी भी आम पाठक या व्यक्ति की सामान्य प्रतिक्रिया हो सकती है: 'जानती हूँ, तुम किसी नियम, कानून या मौरेलिटी पर विश्वास नहीं करते। मैं तुम्हारा लॉजिक भी जानती हूँ। मगर देव बाबू तुम अपने लॉजिक से अपने ही आपको धोखा मत दो....'[3] सचमुच मुझे ऐसा लगता है कि फ़ैशन और कुछ गलत प्रभावों के चक्कर में राजकमल उस केन्द्र से भटक गये जहाँ से उन्होंने अपनी साहित्यिक यात्रा शुरू की थी। 'नदी बहती थी' की सम्भावनागर्भी शुरुआत के बाद और फिर यदा-कदा 'झील' जैसी कहानियां मेरी बात को स्पष्ट करती हैं। लेकिन फिर-उन्होंने फ़ैशन और ग़लत प्रभावों को ग़लत ढंग से जस्टीफ़ाई करने वाले लॉजिक की तलाश करली और उसे गढ़कर वह खुद को छलते रहे। उनके कृतित्व में बहुत से अच्छे लेखन का कच्चा माल दबा पड़ा है लेकिन किसी भी धरातल पर उनकी कोई ऐसी उपलब्धि नहीं है जिसे गौरवपूर्ण मानकर रेखांकित कर सकने का सुयोग प्राप्त हो। जीवन से उनका साक्षात्कार अधूरा और सतही है, कलात्मक संयम और अनुशासन का उनमें नितान्त अभाव है और दृष्टिहीनता से पैदा हुई मूल्य-मूढ़ता की स्थिति उन्हें अर्थहीन चमत्कारों के जंगलों में भटका देती है। लेकिन फिर भी राजकमल के साहित्य का महत्व है क्योंकि वह ग़लत प्रभावों के तहत एक सम्भावनापूर्ण शुरुआत की असमय और दुर्भाग्यपूर्ण मौत का करुण उदाहरण है। उसका महत्व तब और भी बढ़ जाता है जब हमें मालूम होता है कि उनकी अन्तिम ख्वाहिश जनता की ओर आने की थी जिसे उन्होंने 'आलोचना' में प्रकाशित अपने वक्तव्य में स्पष्ट तौर पर प्रकट किया है।.... ● ●

१. देहगाथा—पृ० सं० ४३

२. वही—पृ० सं० ६१

मरी हुई मछली

परेश

●

मैंने सम्भवतः '६१ में यह निर्णय लिया था कि निराला लेखकों का आदर्श नहीं हो सकता। तात्पर्य कालिदास, प्रसाद या आचार्य द्विवेदी की पवित्रता का निर्वाह राजकमल चौधरी नहीं कर सकता।

दोस्तोएव्स्की को थोड़ा भी पढ़ने वाला लेखक यह जान लेगा कि उसकी मुख्य उत्तेजना लेखन नहीं, जूआ खेलना है। दांव लगाने के मामले में वह पाण्डवों से एक कदम आगे ही था। पिकासो को थोड़ा भी जानने वाला पाठक यह जानता है कि चित्र बनाना उसकी मुख्य विवशता नहीं, विवशता उसकी यह है कि 'बुल फ़ाइटिंग' देखने के लिए वह अपने सब काम छोड़ देगा।

राजकमल और स्वयं अपने बारे में भी मैंने यही निर्णय लिया था कि शाम होते ही 'फ्री स्कूल' में दलाली करने से बढ़कर उत्तेजक धंधा हम लोगों के लिए दूसरा नहीं हो सकता। खयाल कीजिये, यह निर्णय मात्र मेरा है, दोनों का सम्मिलित नहीं, यद्यपि राजकमल इस प्रकार का जीवन शुरू कर चुका था। इस उत्तेजना की आग नाभि के ऊपर और नीचे जलती है। ऊपर की आग का वर्णन करना उसने जरूरी नहीं समझा, इसके लिए वह नीच से नीच योजनाएँ बनाता, दोस्तों की जेब से पैसा निकालना ही उसकी दिनचर्या होती।

लिखने से कभी पेट नहीं भरता। कलकत्ते में वह यह जानता था कि वह नौकरी नहीं कर सकता। अतः लिखकर ना भरे हुए पेट के लिए वह हर तरह की योजनाएँ बनाता। व्यक्तिगत जीवन में वह ईमानदार नहीं था। इसका जस्टीफ़िकेशन हम लेखकीय भाषा में इस प्रकार देते हैं कि लेखक हर प्रकार के अनुभव के लिए क्षम्य है।

लेकिन मैं इसे क्षम्य नहीं मानता। छपने की राजनीति में प्रवेश पाने के लिए जिस प्रकार आज का लेखक अपनी औरत को आगे करके काण्ट्रेक्ट हासिल करता है, राजकमल ठीक इसके विपरीत एक सद्गृहस्थ की तरह कलकत्ता छोड़कर अपने गाँव-घर में वापस आ गया।

पहले मैं राजकमल को कहानियों के माध्यम से जानता था। लेकिन उसके परिवार के साथ रहने के बाद यह लगा कि उसके साहित्य को जानना मेरे लिए जरूरी नहीं रहा। क्योंकि उसका साहित्य एक 'झूठ' है। जिसको उसने अपने कमजोर अस्तित्व को ढकने के लिए ओढ़ रखा है। उसका 'सच' उसका छोटा-सा परिवार था। उस परिवार में उस समय हर मंगलवार को काली मन्दिर जाने वाली एक सती साध्वी, उगते हुए सूरज के बराबर माथे पर बिंदिया लगाने वाली पत्नी थी, और थी बिस्तर पर पाँवों के झटके से परिवार की सारी चिन्ताओं को हवा में उछाल देने वाली छः मास की दिव्या।

अब दिव्या कितनी बड़ी हो गई है, मैं नहीं जानता। मैं इतना ही जानता हूँ कि हम 'आपानक' का आरम्भ उसको 'पिलाये' बिना नहीं करते। आधी चम्मच ह्विस्की में वह जो तमाशे दिखाती—टुकुर टुकुर आँखों को मदमाती। सम्भवतः इसी सुख के लिए मैं अधिकांश समय कलकत्ते के सुदूर दक्षिण के उस पूर्व पुतियारी में बिताता।

याद करने पर यह सब औपन्यासिक लगता है। ट्राम या बस में बैठकर टालीगंज जाना, पश्चात पैदल पुल पार कर पुतियारी। यह बीच की नदी ही, 'नदी बहती थी' थी। नदी किनारे का वह पेड़ भी उसने दिखाया, जिससे लटककर इस उपन्यास की एक औरत आत्महत्या करती है।

२२ जून '६७ को ४० और ६० बरस के मेरे दो मित्रों ने एक पार्टी अरेंज की। पता चला, वे मेरी शादी की दूसरी वर्षगाँठ मना रहे थे। मई में बक्षी तो आ कर चला गया था। इन दिनों विमल, अनामिका और डॉ० मदान यहाँ थे—जिनको डिनर पर आना था। मैं इन लोगों को लेने नीचे गया तो विमल ने कहा : 'तुम भावुक ना हो जाओ तो तुम्हें एक खबर सुनाऊँ' मैंने समझा हमेशा की तरह वह कोई मज़ाक सुनाएगा, जिसे मैं सीरियसली नहीं लूँगा। उसने कहा : 'राजकमल नहीं रहा।' मैं भावुक नहीं हुआ—यह दिखाने के लिए मैंने चेहरा कड़ा किया और बिना कुछ कहे तेज़ी से नीचे सोडे की दूकान पर चला गया। डॉ० मदान जब तक आये—हम लोग बीयर की बोतलों को खाली कर साधुओं की तरह बैठे थे। लेकिन मेरे मित्र ने बताया, बीयर के दौरान मैं राजकमल के बारे में ही बोलता रहा था। डॉ० मदान के आने के बाद भी मेरा टेन्शन कम नहीं हुआ था।

•

राजकमल की दो मुख्य काव्य-कृतियों पर पिछले दिनों 'विवेचना' में एक पेपर पढ़ा गया है, वह मैंने भी पढ़ा। उसकी मृत्यु के बाद बिहार, बनारस और मध्यप्रदेश से इसके दुक्के पैम्फलेट्स भी आते रहे। मैं बड़ी तितिक्षा से इस डाक को बेचने वाले कागजों में रखता गया.......क्या होगा मरने के बाद राख संजोने से.... यह राख खाद भी नहीं बनेगी।

पिछले दिनों 'ज्ञानोदय' में कुछ लिखने के लिए मैंने 'होमोज' पर काफ़ी पढ़ा। लिखा भी, मगर रमेश बक्षी डर गया। उसने लिखा : वह इस लेख को लेकर दिल्ली आ रहा है तथा किसी अन्य पत्रिका में इसे छापेगा। अभी 'लहर' में 'कुण्ठा' पर उसकी टिप्पणी पढ़ी और थोड़ा विश्वास आया कि हाँ, वह छाप सकेगा। लेकिन उस लेख में तो इतने तमाचे हैं—कहानियों में छायावाद लाने वाली मंझली पीढ़ी पर कि ये 'ऐय्याश प्रेतों' के नारे लगाने वाले लोग भागेंगे और पीछे मुड़कर भी नहीं देखेंगे। फिलहाल इस पीढ़ी की गोटी, टाइम्स आफ इण्डिया' की शह पर बढ़ रही है, लेकिन उसके पिटने में देर नहीं है।

कम से कम राजकमल इन्हीं समझौतापरस्त राजनीतिज्ञों से जूझते-जूझते मरा है। ५-१० ऐसे ही स्वर बुलन्द हो जाएँगे तो पाठक इन लोगों के पुतले जलाने में देर नहीं करेगा, हिन्दी पाठक को गुमराह करने का अपराध इनके सेहरे पर बंधा हुआ है।

•

इक्की-दुक्की कहानियों और इन काव्य-चर्चाओं के बाद मुझे मिली : 'मछली मरी हुई'। 'लेस्बियन्स' के बारे में वह काफ़ी जानता है, यह सिद्ध करने के लिए उसने भूमिका में ५-१० पुस्तकों के नाम गिनाये हैं। यदि उसने ये पुस्तकें सचमुच भी पढ़ी हैं, तो भी उसके इस ज्ञान का उसके इस उपन्यास से कोई सम्बन्ध नहीं। एक बार जहाँ उसने शीरीं पद्मावत और प्रिया को सम्भोग-रत दिखाया है, वहाँ भी किसी प्रकार की उत्तेजना पुरुष-पाठक में नहीं जगती। सब प्रकार के सम्भोग-जन्य अतिक्रमण के बावजूद उपन्यास किसी भी प्रकार 'लेस्बियनिज्म' को केन्द्रीय समस्या बनाकर नहीं चलता। केन्द्रीय क्या, स्त्रियों की यह समलैंगिक रति कहीं प्रासंगिक समस्या भी नहीं है। यह मात्र उसने भूमिका में बड़प्पन दिखाना चाहा है।

'लहर' सम्पादक का मेरे पास पत्र आया तो वर्षों बाद मैंने कोई टिप्पणी लिखने की हामी भरी। वह इसलिए कि राजकमल का असली गुरू ज्यां जेने (Jean Jenet) हो सकता था। काश! उसने जेने की The Thief's Journal पढ़ी होती....वह जान सकता कि पुरुषों की समलैंगिक रति (आवश्यक रूप से मात्र

इण्टरकोर्स नहीं, बल्कि पति पत्नी के से सम्बन्ध) की दुनिया कितनी बड़ी है ? वैसे इस दुनिया के बारे में हिन्दुस्तान का छोटे से छोटा कस्बा भी और छोटे से छोटा लड़का भी जानता है, लेकिन जितना ज्यां जेने जानता है, वह लग-भग डरा देने वाला है। यह 'जरनल' एक चोर का उतना नहीं, जितना कि एक 'पैसिव होमो' का है। अपने 'एक्टिव होमो' (पति) के कामांगों के बारे में जितना औपन्यासिक ढंग से जेने ने वर्णन किया है,अन्य 'फ़ीमेल ह्वोर्स' (मादा-वेश्या) को लेकर उसमें जितनी ईर्ष्या है, वह रीतिकाल की हमारी 'मुग्धा' और खण्डिता नायिकाओं में भी नहीं मिलती, जब कि ये नायिकाएँ औरतें थीं, और जेने 'स्टोलिनियो' की 'नर-पत्नी'।

मैंने 'लहर' से किसी प्रकार के मूल्यांकन की हामी नहीं मरी। किन्तु मैं राज-कमल के बारे में कुछ ऐसी सूचनाएँ दे सकता था उन्हें, जो यह मानते हैं कि राजकमल का भी कोई साहित्य है।

मुझे तो इस उपन्यास के बारे में इतना ही याद है कि जीवन भर नपुंसक रहा एक व्यक्ति, जो एक रात न्यूयार्क के संग्रीला होटल में अपनी प्रेमिका से सम्भोग नहीं कर सका था, बीस वर्ष बाद कलकत्ते के 'कल्याणी-मेन्शन' में उसी की अट्ठारह-वर्षीया पुत्री से एक ही रात में अनेक बार बलात्कार करता है। बलात्कार करवाने से पहले यह लड़की उन्तीसवीं मंज़िल में रहने वाली उस आदमी की पत्नी की काम-वासना पूरी करती है। औरत से सम्भोग करवाने के बाद यह लड़की मात्र उसके पति के इशारे पर तीसवीं मंज़िल पर चली आती है—जहाँ रम पिला कर वह अनेक बार उसे ख़ून से लथपथ करता है। अपनी जवानी में नपुंसक रहे इस आदमी में बुढ़ापे में यह पुंसत्व कहाँ से आ गया ?····बार बार कुचली जाती हुई यह मछली हर बलात्कार और ख़ून के फौवारे के बाद कहती है : 'और करो, मैं अभी मरी नहीं····' साथ में उल्टियाँ करती जाती है। यह मृतप्राय: लड़की आधी रात पर जैसे तैसे उठकर सीढ़ियों से उतरकर आना चाहती है, तो चक्कर खाकर गिर पड़ती है। नौकर उठाकर उसके घर पहुँचा आते हैं। जहाँ उसका डाक्टर पिता बिना किसी उत्तेजना के अपने हाथों से उसके घाव पोंछता है और सातवें दिन आत्महत्या कर लेता है। मरने से पहले एक पत्र में लिखता है : 'मुझे पता था तुम ऐसा करोगे' और यह जानने वाला पढ़ा-लिखा पिता फिर भी उसे उस बलात्कार-गृह में जाने की छूट देता रहता है। उसे यह भी पता है कि उसकी लड़की एक औरत की काम-वासना का शिकार या साधन बनती है हर रोज़। अत: ऐसी लड़की को पुरुष के संसर्ग का स्वाद जानने के लिए वह अवसर देता था : 'जिससे कि तुम एक दिन उसे अपने फ्लैट में ले जाओ····'

····इतनी विक्षिप्त कल्पनाएं करने वाले लेखक के बारे में क्या कहूँ····अब कहना चाहता हूँ कि उसकी हुतात्मा को Jean Jenet की The Thief's Journal पढ़वाई जाय। वह कोई दूसरा उपन्यास लिखेगा, उस दुनिया से भी····

इस उपन्यास के अन्त में मैंने पेंसिल से लिख रखा है : A Crime novel. अपने जरनल के शुरू में ज्यां जेने लिखता है : as one arranges a Coach or a room for love; I was hot for crimes.

····and Raj Kamal was also hot for crimes....he could have been another Jenet. ● ●

मछली मरी हुई

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

श्री राजकमल चौधरी के इस उपन्यास पर तरह तरह की प्रतिक्रियाएं सुनता रहा हूँ। अभी यहाँ श्री अमृतलाल नागर आये थे। 'सैक्स और उपन्यास' पर चर्चा हुई। नागर जी की राय है कि हिन्दी में 'सैक्स' का समस्या के रूप में चित्रण-विश्लेषण नहीं के बराबर हुआ है। 'मछली मरी हुई' के विषय में भी कोई ऊँची धारणा नागरजी के मन में नहीं बनी।

डा० लक्ष्मीनारायण लाल के 'रूपाजीवा' में एक नपुंसक का नक्शा पेश किया गया है और उसके 'क्लैंक' का असर उसकी पत्नी पर किस तरह होता है, इसका मानस-विश्लेषण वहाँ किया गया है, तब उसकी प्रशंसा भी हुई थी। सैक्स को समस्या के रूप में डी० एच० लारेन्स ने प्रस्तुत किया था। लारेन्स के सम्मुख एक आदमी की शारीरिक असमर्थता का सवाल नहीं था। उसके सामने उस धनी, लेकिन भीतर से 'निर्जीव' वर्ग का सवाल था, जिसका प्रतिनिधि मिस्टर चैटर्ली है; सम्मान, धन, खिताब, लेकिन अपाहिज और कुण्ठित ! सभ्यता के विषम और विवेकहीन विकास में एक वह मंजिल आती है, जब आदमी सहज या प्राकृतिक स्तर पर अपने को 'असमर्थ महसूस करता है और इस 'विसंगति' को उभारने का एकमात्र यही तरीका था कि लारेंस 'गेमकीपर' को गरीब लेकिन 'सहज' जीवन-विधि के प्रतीक रूप में पेश करता और सम्भोग-क्रिया का ऐसा कलात्मक वर्णन करता कि चैटर्ली की जमात

के लोग अपने 'क्षय' को समझने की कोशिश करें; अपना, अपनी 'सोसाइटी' का कल्पान्तर करें।

'मछली मरी हुई' में एक यौन-विकृति को अकुण्ठ रूप में लिखा गया है। लेकिन लारेंस की तरह यहाँ भी वर्तमान 'अर्थचक्र' लेखक के ध्यान में है। यह देखने योग्य बिन्दु है कि इस रचना में न तो 'समलैंगिक मिलन' के प्रति आकर्षण उत्पन्न किया गया है और न उस अर्थमूलक समाज को भुलाया गया है, जो मानसिक विकृति में मददगार साबित होता है।

राजकमल चौधरी 'मछली मरी हुई' में किसी विषय की सत्ता नहीं मानते, केवल विषय को, उनके मत से, यहाँ 'प्रस्तावित' किया गया है। गहराई में उतर, शायद इसीलिए, लेखक कल्याणी, शीरीं, प्रिया और निर्मल के मन का पूरा चिट्ठा पेश नहीं करता। ऐसा लगता है, जैसे सिर्फ महिलाओं की आपसी मुहब्बत के 'कथन' को ही वह एक 'क्रान्तिकारी' काम समझता हो और शायद इसीलिए उसके मन में आया हो कि हिन्दी के लिए इतना भी बहुत है। हिन्दी में अभी तक ऐसे विषयों पर लेखन एक 'साहस' और 'आधुनिकता' का कार्य माना जाता है। क्योंकि हमारा समाज 'विकृति' को छिपाता है; और सतह पर साधु जीवन की प्रतीति देता है। अतः ऐसे आडम्बरपूर्ण समूह के सम्मुख 'मछली मरी हुई' जैसी कृति निश्चित रूप से 'साहस' का कार्य ही कहा जाएगा। लेकिन व्यापक दृष्टि डालने पर इस रचना में कुछ भी 'साहस' नहीं दिखाई पड़ता। क्योंकि 'विकृति' के वर्णन के समय चौधरी के मन में कोई 'नैतिक आतंक', एक सीमा तक अवश्य रहा है। न अन्यथा सिर्फ बेचैनी और रोग के रूप में चित्रण न होकर, 'ग्राफिक' चित्रण होता।

'बड़ी बहन ने तरीका बताया। अपने बनाये तरीके पर आगे बढ़ती गयी। शीरीं आश्चर्यचकित थी। वह बेहद उत्तेजित थी। बहन जो करना चाहती थी, करने देती थी। तनिक भी इन्कार नहीं, जरा भी एतराज नहीं। कोई पुरुष शीरीं को इतनी शीतलता, इतनी शीतल उत्तेजना, इतनी उत्तेजक शारीरिक वेदना नहीं दे सकता था। नहीं दे सका था।'

साफ है कि चौधरी के मन में कोई 'ब्रेक' है। इसलिए अन्यत्र वह 'प्रतीकात्मक शैली' अपनाता है : 'एक मछली कहती है, और पास आओ, अपने होठों से मुझे पी जाओ। मेरे होठों में जीभ डाल दो। अपने शरीर से मुझे रगड़ती रहो। मैं मर रही हूँ।'

निर्मल जब प्रथम बार कल्याणी के साथ असफल होता है, वहाँ लेखक निर्मल के मन की तस्वीर पेश नहीं करता और 'उपन्यास' में कमजोरी का कारण यही है। क्योंकि इस रचना में न केवल सैक्स एक 'समस्या' के रूप में लिया

गया, बल्कि अन्त में 'समाधान' भी प्रस्तुत किया गया है। अन्त में निर्मल 'प्रिया' से बलात्कार करने में कामयाब हो जाता है और अपने पुरुषत्व को पा जाता है। जिसका ज़िक्र डा० रघुवंश अपने पत्र में करते हैं, लेकिन रचना' बनने के लिए आवश्यक था कि केवल 'घुमड़न' का संकेत न हो! कैसे आसमान पर बादल आते हैं; एक पर एक; दवा से कैसे कैसे रूप बनते हैं और ज़िन्दगी के पहिये को कैसे किधर घुमा देते हैं? इस भीतरी खोज-खबर का स्पर्श मात्र होने से 'मछली मरी हुई', कामशास्त्र के एक अध्याय-सी लगने लगती है, जिसमें 'लेस्बियाँ' को सिर्फ कहानी में बाँध दिया गया है। विवरण-प्रियता इतनी अधिक कि कहानी के बीच बीच 'लेस्बियाँ' पर जानकारी घोषित की जाने लगती है, जिससे 'विश्वसनीयता' आती अवश्य है, लेकिन वह 'औपन्यासिक विश्वसनीयता' न होकर, 'शास्त्रीय विश्वसनीयता' बन जाती है :

१७६० ई० में मार्क्विस-दि-सादे के दो उपन्यास 'जूलिएट' और 'जस्टीन' प्रकाशित हुए। दोनों में ही स्त्रियों के 'समलैंगिक प्रेमकाण्डों' का विस्तृत विवरण किया गया........ (पृष्ठ १३२)

'इसीलिए 'मछली मरी हुई' में 'विषय का प्रस्ताव' मात्र ही प्रस्तुत हो पाया है; 'थीम' सुगबुगा कर रह गई; सचित्र और सवाक् नहीं हो पाई।

कहानी के बीच बीच 'टिप्पणी' देने का लोभ क्यों हो? राजकमल चौधरी की आधुनिकता बनावटी नहीं थी। उसमें परिप्रेक्ष्य था। वह वास्तविकता की असंगति को बड़े तीखेपन से महसूस करते थे। यह 'तेजाब' उनके प्रत्येक क्षण का साथी था, लेकिन उसे पीते-पीते वह तेजाब जैसे बह, उनके खून में समा गया था। **इसीलिए 'अहसास' में गहराई अवश्य है; चित्रण में नहीं है।** अहसास की इस गहराई से लेखक ने निर्मल पद्मावत का व्यक्तित्व गढ़ा है, जिसमें 'माउण्ट क्रिस्टो' (ड्यूमाज़) की रहस्यमयता, रोमांस, वगैरह सभी हैं, लेकिन 'माउण्ट क्रिस्टो' के नायक में जो नहीं है, वह है, निर्मल की बीसवीं शताब्दी में उपस्थिति; उन सेठों के मध्य जो 'नये' नहीं हैं; जो अब भी आयकर छिपाते हैं और 'नये' उद्योगों में पूंजी नहीं लगाना चाहते। जो 'समझ' का उपयोग सिर्फ 'षडयन्त्र' में करते हैं!

निर्मल पद्मावत को एक 'व्यक्तित्व' देने में लेखक सफल हुआ है (रहस्यमयता भरने के बावजूद)। जैसे समकालीन सेठों के सामने राजकमल चौधरी स्वयं निर्मल पद्मावत के रूप में खड़े हो गये हों और ('यथार्थ' में न सही; 'कल्पना' में ही सही) 'प्रबुद्ध पूंजीपति' द्वारा 'पिछड़े हुए पूंजीवाद' को नीचा दिखा रहे हों, लेकिन अन्त में निर्मल इस सच्चाई को पहचान लेता है कि वह कुछ नहीं कर सकता। 'कल्याणी मेंशन' भी वह तभी बचा सका, जब उसे वही पुराने हथकण्डे अपनाने पड़े। यहीं उपन्यास 'लेस्बियाँ' को पीछे छोड़कर, समकालीन 'अर्थचक्र' की कहानी बन जाता है और 'लेस्बियाँ' उसी की एक 'विकृति' के रूप में दिखाई पड़ने लगता है। 'विकृति' को 'परिप्रेक्ष्य' मिल जाता है और दरअस्ल यही सबब है कि 'मछली मरी हुई' का असर पूर्ण सपाट न रहकर, कुछ संकुल हो जाता है।

'सैक्स' और 'अर्थचक्र' के विषय में राजकमल चौधरी को 'प्रामाणिक अनुभव' हुए थे। वह इस कुंठित मुल्क के सामने वस्तुतः 'विद्यमान' सैक्स-विकृति को रखना चाहते थे और इस क्षेत्र में परम्परागत आडम्बर को तोड़ना चाहते थे। दूसरी तरफ 'अर्थ के दुष्चक्र' के भी वह विरोधी थे। नतीजा यह हुआ कि 'सैक्स' पर लिखते समय वह 'अर्थचक्र' के विषय में टिप्पणी करना नहीं भूलते और 'अर्थचक्र' की चुनौती स्वीकार करने वाले निर्मल को ही वह नपुंसकता से ग्रस्त दिखाते हैं। और कोई उपाय यदि था तो यह कि वह निर्मल को इतना रहस्यमय बनाने से बाज़ आ सकते। थे लेकिन वह लेखक की निर्मिति का मुख्य बिन्दु नहीं है; मुख्य बिन्दु यह है कि अर्थचक्र के कहीं भीतर रखकर ही, 'सैक्स' की समस्या को देखा जा सकता है।

अतः 'रचना-प्रक्रिया' के विश्लेषण में इस शब्द को 'व्यापक' अर्थ में लेना चाहिए। कुछ 'प्रतिगामी आधुनिक' **'वास्तविकता बोध'** को कला में उतना महत्वपूर्ण नहीं मानना चाहते। लेकिन 'मछली मरी हुई' से भी यह साबित हो जाता है कि 'वास्तविकता बोध' (कागनीशन ऑफ़ रियलिटी) रचना-प्रक्रिया के स्वरूप को निश्चित कर देती है। जेम्स ज्वाइस 'आधुनिक उपन्यास' के प्रवर्त्तकों में माने जाते हैं। जेम्स ज्वाइस ने दास्तावस्की को बड़ा उपन्यासकार इसलिए नहीं माना था कि वह एक गल्पकार था, झूठे किस्से गढ़ता था। जब कि जेम्स ज्वाइस डबलिन शहर की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी का नक्शा देना चाहते थे और इस 'बोध' ने ही 'यूलिसिस' की 'रचना-प्रक्रिया' का स्वरूप तय कर दिया था। 'मछली मरी हुई' में लेखक एक 'वास्तविकता' को एक बड़ी वास्तविकता के चित्रफलक पर अंकित करता है। उसमें 'समस्या' और 'परिप्रेक्ष्य' का अभाव नहीं; कमी यही है कि वह 'समस्या' का तलस्पर्शी अंकन नहीं कर करता। वह 'प्रस्तावना' से आगे बढ़ कर विकृतिग्रस्त मानव-चेतना के विविध 'पैटर्न' नहीं उभार पाता; इसलिए वास्तविकता का तीखा बोध और अपेक्षाकृत अधिक 'साहस' भी उच्च कोटि की 'रचना' में बदल नहीं सका।

इसलिए राजकमल चौधरी के इस उपन्यास का स्थान और महत्व यह है कि वह हिन्दी में एक नये क्षेत्र अथवा वास्तविकता के एक नये आयाम की ओर लेखकों-पाठकों का ध्यान आकर्षित करता है; और उस साहस और खुलेपन का प्रदर्शन करता है, जिसके बिना पाखण्ड को जीता नहीं जा सकता। लेकिन 'उपन्यास' की दृष्टि से 'मछली मरी हुई' मध्यम कोटि की रचना ही है। यदि राजकमल को और जिन्दा रहने का मौका मिलता, तो शायद वह अपने 'प्रामाणिक' और 'भुत अनुभवों' को किसी श्रेष्ठ 'रचना' में रूपान्तरित कर पाते। फिर भी 'पायोनियर' कभी विस्मृत नहीं किये जा सकते। ● ●

सामयिक विकृत्यात्मक अभिव्यक्ति : प्रायोगिक असफलता

भारतरत्न भार्गव

●

'राजकमल के शिल्प में बड़ी ताज़गी है। साधारण से शब्दों को मुहाविरे की तरह प्रयोग करना वह खूब जानता है। उसकी शैली अपनी है। वह उसकी सबसे बड़ी विशेषता है, विशिष्टता है।' या :

'उसके लेखन में बेहद बिखराव है।' और :

'अपने गद्य में, कहानी या निबन्ध में, उपन्यास में या टिप्पणी में, बड़े-बड़े लेखकों, पुस्तकों, कलाकारों, अंग्रेजी फ़िल्मों, स्थानों, या (और) संदर्भों का खामख्वाह ज़िक्र करना उसकी आदत है। वह ढेर सारी बातों और विचारों के बीच पाठक को उलझा कर चमत्कृत करता है।' और ये, कि :

'उसने अपने आस-पास से, परिचित वातावरण से, अनुभूत सत्यों से, आधुनिक संदर्भों से मात्र अश्लीलता को चुना है। उसी में उसका मन रमता है। उसका लेखक आन्तरिक निजता से अश्लील प्रसंगों को जीता है।' और ये भी कि :

वह अन्तर्विरोधों से जूझता हुआ व्यक्ति था, जो अपनी आत्मा (या आन्तरिक निष्ठा) से पराजित हो कर टूट गया।'

ये और इस तरह की अनेकानेक बातें समय-समय पर राजकमल के व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध में कही जाती रही हैं। जब तक राजकमल जीवित रहा, वह यह सब कुछ सुनता रहा। बातों के, क़िस्सों के, फ़रेबों के और मक्कारी के जाल बुन-बुन कर लोगों की भीड़ पर फेंकता रहा। लोग जाल में उलझते रहे और राजकमल मजा लेता रहा।

इस भीड़ से वह पूरी तरह असम्पृक्त या तटस्थ रह पाया हो, ऐसी बात नहीं है। हर स्थिति में, हर अनुभव-यात्रा में, हर नये संदर्भ में, वह बहुत अधिक जुड़ा हुआ, बल्कि 'इन्वॉल्ड' रहा है। सम्पृक्ति का यह चरम उसे जीवन भर भटकाता रहा। यही भटकन, यही पीड़ा, यही दर्द उसके उपन्यासों में मुखरित है। अनुभवों की प्रामाणिकता और सन्दर्भों की आधुनिकता के कारण ही उसका शिल्प ताजा नज़र आता है। अनेक विरोधी स्थितियों का यह इन्वॉल्वमेन्ट उसके बिखराव का कारण है। वह प्रतिक्षण कुछ नये की तलाश में संलग्न नज़र आता है। यह 'नया' उसे इतना चौंकाने वाला लगता है कि वह अन्दर ही अन्दर उससे आतंकित हो जाता है। यह आतंक उसके दिलो-दिमाग पर इस कदर हावी है कि छुटकारा पाना चाहकर भी वह उससे मुक्त नहीं हो पाता। सम्पृक्ति और विमुक्ति के बीच ही इस छटपटाहट के कारण वह अपने को बहलाने, बल्कि बहकाने के लिए बहाने ढूँढ़ता है। ये बहाने उसके किस्सों का जाल हैं और इन बहानों की कलात्मक अभिव्यक्ति है : 'उसका साहित्य'।

राजकमल ने हिन्दी के कुल चार उपन्यास लिखे : 'नदी बहती थी', 'शहर था शहर नहीं था', 'मछली मरी हुई' और 'देह गाथा'। 'एक अनार : एक बीमार' उसकी लम्बी कहानी है, और इसके अतिरिक्त उसका एक अधूरा लघु उपन्यास भी है : 'आरण्यक।'

कलकत्ता की एक कहानी पत्रिका में 'नदी बहती थी' धारावाहिक रूप से भी प्रकाशित हो चुका है। और यह उसका प्रथम उपन्यास है। 'नदी बहती थी' के परिवेश में नज़र आने वाले पात्रों : सोमेश, विमल ठाकुर, सोनाली, रनजीत, शेफाली आदि में, और उसके बाद के उपन्यासों : 'मछली मरी हुई' और 'शहर था शहर नहीं था' के पात्रों में बहुत अन्तर है। अन्तर देश और काल का नहीं, बहुत मानों में परिस्थिति का अन्तर भी इतना नहीं है, जितना नज़रिये का है। यह नज़रिया कितनी तेज़ी से बदला है, इसके साक्ष्य हैं उसके ये सभी उपन्यास, और यदा-कदा डायरी में व्याप्त हुई मनोदशाएँ।

'नदी बहती थी'—कहा जा सकता है कि अपेक्षाकृत सुथरा उपन्यास है। 'सुथरा' इस माने में कि इस उपन्यास में वह बहुत संयत नज़र आता है। कलकत्ता की एक छोटी-सी बस्ती को केन्द्र बना कर लिखा गया अतः उपन्यास सामाजिक विघटन, राजनैतिक षडयन्त्रों और वैयक्तिक सन्त्रास को बखूबी समेट कर चलता है। इस उपन्यास में राजकमल स्थितियों पर करारा व्यंग्य करता है, उन्हें यथावत् स्वीकारता नहीं। उसका आक्रोश तेज़ छुरी की तरह प्रत्यक्ष को तराशता हुआ आवरित सत्यों को उद्घाटित करता है और उसे नंगा करके उस पर व्यंग्य से मुस्कुराता है। सोमेश गांगुली की राजनीति में; विमल ठाकुर की बौद्धिकता में; रनजीत की एकान्तिक (या स्वार्थपरक) वैयक्तिकता में; शेफाली की वेश्यावृत्ति में; पूर्वी की आवारगी में कहीं भी राजकमल असम्पृक्त नहीं है। वह हर पात्र और चरित्र के अन्तर से झाँकता हुआ-सा चलता है। पात्रों की कमज़ोरियाँ उनकी विवशता भी हैं : यह 'नदी बहती थी' का लेखक खूब समझता है। इसीलिए उसका हर चरित्र कमज़ोर होकर भी पूर्ण है। वह कमज़ोरी यथार्थपरक है और यह पूर्णता दृष्टिपरक!

राजकमल के लेखन की, उसके उपन्यासों की एक विशेषता है (विशिष्टता भले ही न हो!) कि वह हाईवे पर नहीं चलता। छोटी-छोटी गलियों, मोड़ों पर रुकता हुआ, उनके बारे में सोचता-समझता चलता है। उसके दिमाग में अनेक विचार हैं और अनेकानेक समस्याएँ हैं। वह उनसे मुक्त नहीं हो पाता और उनमें उलझता है, फिर उन्हें शब्दों से तराश कर आगे बढ़ जाता है। यहीं उसका व्यंग्य पूरे तीखेपन पर उभरता है।

खाद्य आन्दोलन के सिलसिले में जनता पर गोलियाँ चली हैं। लेखक मात्र इस घटना और इससे प्रभावित पात्रों को ही पेण्ट नहीं करता, सारे देश की राजनैतिक स्थिति उसका कैन्वास बड़ा कर देती है। वह इस घटना के माध्यम से सारे देश की जनता, राजनैतिक दलों और उनकी नीति-रीति के कारण उत्पन्न विद्रूप को अपने शब्दों में समेट लेता है :

'हर देश की हर राजनैतिक पार्टी यही चाहती है। जन-सामान्य का फ़ायदा नहीं चाहती है, चाहती है पार्टी का फ़ायदा। पहले पार्टी, पहले पार्टी का हित, पहले पार्टी के उसूल, बाकी सारा कुछ बाद में! जनता का फ़ायदा तो कोई नहीं चाहता।.........। राजनैतिक पार्टियाँ अनाज पैदा करने का आन्दोलन नहीं करती हैं। इस आन्दोलन का उन्हें पता तक नहीं होता है। उनके लिए आन्दोलन का मानी होता है खिलाफ़त और बग़ावत। सिर्फ खिलाफ़त, और नारे और जुलूस और निहत्थी जनता को पुलिस के हथियारों के सामने खड़ा कर देना!'

(नदी बहती थी : पृष्ठ ११७)

लेकिन उसके दिमाग़ में विचारों और समस्याओं का यह जमघट उसे कई बार ज़रूरत से ज्यादा भटका देता है। कुछ स्थानों पर वह सम्हल जाता है, किन्तु अधिकांशतः उसे यह भटकाव बुरी तरह उलझा देता है। यह उलझन पाठक के मन में कई बार खीझ भी पैदा कर देती है। उसके कैन्वास के विराटत्व में मूल बिन्दु लुप्त-सा हो जाता है। 'आरण्यक' (लहर, नवम्बर '६१ : दूसरी किस्त) में इस बड़े कैन्वास पर विचारों की उलझी रेखाएँ कोई स्पष्ट आकृति नहीं

बना पाती। प्रथम पुरुष में लिखे गए इस अधूरे लघु उपन्यास में उसका कथ्य विशिष्ट शैली और शिल्प के बावजूद कभी-कभी विकर्षण भर देता है। उसका स्वरूप निबन्धात्मक हो जाता है। यथा :

'नीलू का नाम आते ही, जैसे मैं दूसरा आदमी हो जाता हूँ। वह नहीं रह पाता हूँ जो मुझे होना चाहिए। मगर, सवाल उठता है, क्या होना चाहिए? किसी भी आदमी को क्या होना चाहिए? ऐसा पति होना चाहिए, जो····।'

और लेखक, आदमी की विभिन्न स्थितियाँ—पति, पिता, नौकर, और नागरिक के रूप में—पेश करता हुआ उन पर करारा व्यंग्य करता है। फिर अपने अतीत में खो जाता है। अतीत की स्मृति से लौट कर सिद्धान्तों और फलसफे में डूब जाता है। उसके बाद सारे सिद्धान्तों की व्यर्थता सिद्ध करते हुए यान्त्रिक जीवन की विषमताओं और विवशताओं के जाल फैलाकर दिखलाता है और फिर फेहरिस्त और फेहरिस्त। 'दवाएँ, शराब, अफ़ीम, कपड़े, फ़ैशन, नाच-गाने, जलसे, शिकार, खेती, ब्लैकमार्केट, कानून, जेलखाने, शेयर बाजार, मण्डियाँ!' [फिर जैसी कि उसकी आदत है कि जब तक औरतों की जांघों और टखनों की बात न करे, उसे चैन नहीं पड़ता] और, 'कपड़े उतार कर बिस्तरों में दोनों टांगें अलग-अलग फैलाती हुई खिलखिलाने वाली औरतें!' आदि-आदि-आदि!

औरत राजकमल की सबसे बड़ी कमज़ोरी रही है। व्यक्तिगत जीवन में भी और साहित्य में भी! साहित्य में तो खैर, नज़र आता ही है, व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में इसलिए कह सकता हूँ कि मैंने कलकत्ता में उसके साथ कुछ वक्त गुज़ारा है। कलकत्ता के बहू बाज़ार की वैश्याओं, आउट्रम घाट की बद-मिज़ाज और बेडौल औरतों के साथ और चौरंगी के आधुनिक शराबखानों में उसके साथ कुछ वक्त गुज़ारा है। उसे नज़दीक से देखने-पढ़ने की बार-बार, किन्तु असफल कोशिश की है। इसलिए जानता हूँ और कह सकता हूँ कि औरत उसकी सबसे बड़ी कमज़ोरी थी। औरत को अलग करके वह दुनिया की कोई चीज़ नहीं देख पाता। बाद के लेखन में तो यह स्वर और तीव्र हो गया है। 'एक अनार : एक बीमार' की सीता, 'नदी बहती थी' की पूरबी, 'मछली मरी हुई' की शीरीं, उसके इस कमज़ोर खयाल से खेलते हुए पात्र हैं। अपनी कमज़ोरी से पाठकों को चमत्कृत करने के लिए उसने साहित्यिकता का नारा देकर यौन-विकृति, वंचना, जुगुप्सा, घृण्य, तिरस्कृत स्थितियों का वर्णन किया है और इसे इसी रूप में स्वीकार न करने वाले लोगों को 'पुलिस मनोवृत्ति' का घोषित करके 'सच लिखने के खतरे बर्दाश्त करने' वाली बात कही है : ['एक अनार : एक बीमार' की भूमिका]।

फिर भी, यह सच है कि यौन-विकृति का चित्रण ही उसके लिए साध्य नहीं था। सामाजिक वितृष्णाओं का जहरीला धुआँ पीकर उसने इसे पचाया नहीं, पचा नहीं सका, यूँही उगल दिया है। उगला हुआ धुआँ मैन-मस्तिष्क में दुर्गन्ध भर देता है; किन्तु वह काल्पनिक या मात्र मानसिक नहीं है, यथार्थ है। यह बात दूसरी है कि वह दैहिक यथार्थ की वीभत्सता में आन्तरिक यथार्थ को इतनी तीव्रता से नहीं पकड़ सका।

'देहगाथा' में देवकान्त (यानी कि वह स्वयं) के मुख से कहलवाता भी है : 'मैं जानता हूँ कि मैं किसी भी औरत को प्यार नहीं कर सकता। कि औरतें मेरे लिए माध्यम मात्र हैं, उद्देश्य नहीं हैं, और साधन को सिद्धि समझने की ग़लती मैं नहीं करता हूँ।'

(पृष्ठ ७७)

सारे वातावरण में, सारी स्थितियों में, सारी घटनाओं में वह 'औरत' से आतंकित रहा है। उसे हर जगह औरतों, लटके हुए स्तन और खुली हुई जंघाओं वाली औरतों की भीड़ नज़र आती है। '·········और, हर शहर में औरतें अधिक हैं। और औरतों के कारण शहरों से, और शहरों के कारण औरतों से और शहरों से भागता रहता हूँ और भागता रहूँगा।"

(देहगाथा : पृष्ठ ७८)

'देहगाथा' देवकान्त की कथा नहीं, (कमोबेश) राजकमल की ही अनुभव-यात्रा है। इसे उसने स्वीकारा भी है : 'यदि इसे उपन्यास की सफलता का पैमाना मानकर मेरे ही खिलाफ़ इस्तेमाल न किया जाय, तो मैं कहना चाहूँगा कि वह कहानी बहुत कुछ आपबीती-सी ही है।' लेकिन फिर भी उसने इस उपन्यास की भूमिका में व्यर्थ ही यह सफ़ाई भी दी : 'किसी भी अर्थ में यह उपन्यास लेखक की 'व्यक्तिगत' और 'अनुभूत' कथा-भूमि नहीं है।' यह शायद इसलिए कि बहुत सारी कमज़ोरियों, जो इस उपन्यास में चित्रित हैं, स्वीकारते वह डरता रहा। पार्वती के रूप में श्रीमती सावित्री, उसकी प्रेमिका (या पत्नी?) शशि के रूप में श्रीमती शशिकान्ता चौधरी, उसकी पत्नी; और देवकान्त के रूप में वह स्वयं ही रहा है। 'देहगाथा' में काफ़ी कुछ उसने ईमानदारी से कहना चाहा है, फिर भी उसकी यह स्वीकारोक्ति द्रष्टव्य है।

'पार्वती और मेरे रिश्ते के बीच प्रेम कभी नहीं रहा। उसे एक ऐसे व्यक्ति की जरूरत थी, जो उसे सिर में सिन्दूर लगाने का अधिकार दे सके········। मुझे भी एक ऐसे व्यक्ति की जरूरत थी, जो मेरी वहशियतों का कायमी गवाह बन सके। '········इसके अलावा एक बात और है। यह एक बात मैं नहीं कहूँगा। अपने को लोगों की निगाहों में इतने नीचे गिराने का साहस मुझमें एकदम नहीं है।'

(देहगाथा : पृष्ठ ३६)

साहस उसमें नहीं था—यह सच है। इसीलिए वह बार-बार अपने अतीत से कटने की कोशिश करता रहा। वह चाहता रहा कि भविष्य की पारिणामिक चिन्ताओं से वह आक्रान्त न हो। उसकी भयंकरता उसे असह्य जान पड़ती थी। इसीलिए उसने अतीत से कटते रह कर, भविष्य की चिन्ताओं से आँख मूंद कर, भोग्य वर्त्तमान और एन्द्रिय आनन्द के गर्भ में पड़े विकृत सत्य को खंडशः जीते रहना चाहा :

'वैसे मैं भविष्य में किसी प्रकार की कोई आस्था नहीं रखता हूँ, अतीत में भी नहीं। अतीत और भविष्य समानान्तर और समान-धर्म काल खण्ड हैं,—इन दोनों को वर्त्तमान से विच्छिन्न करके ही मैं अपना वर्त्तमान निर्धारित करता हूँ। काल को विभाजित करना उचित स्वार्थ और उचित स्वाधीनता नहीं है।'

(शवयात्रा के बाद देहशुद्धि डायरी, : लहर : मार्च, '६७)

मृत्यु से संघर्ष करते हुए, पटना अस्पताल में (शायद) दूसरे ऑपरेशन के बाद उसने ये पंक्तियाँ लिखीं। अपने खण्डित अनुभवों को विशिष्टता का ओढ़न ओढ़ाते हुए उसने यह कहा। अन्तिम समय से कुछ पूर्व तक वह अपनी आन्तरिक निष्ठा को झुठलाता रहा। किन्तु जीवनगत-सन्दर्भों में इसी में उसकी कराह भी छुपी हुई नज़र आती है।

'किसी ने अचानक कुछ कहा और मेरी ज़िन्दगी की दास्तान शुरू हो गई और 'अचानक' रास्ता बन गया। मेरा रास्ता अनजान का रास्ता है, अचानक का रास्ता है।'

(देहगाथा: पृष्ठ ७३)

यह 'अचानक' और 'अनजान' का रास्ता युग-बोध के सन्दर्भ में प्रामाणिकता तो प्रस्तुत करता है, जीवन की संश्लिष्टताओं, विपर्यय के संत्रास को भोगते हुए मानव-मन की कारुणिक विवशता तो चित्रित करता है; किन्तु इन कुण्ठित अनुभूतियों को आधार नहीं देता, जीवन्तता नहीं देता। राजकमल अपने कथा-प्रसंगों के नायकों की भांति स्वयं भी वैकल्पिक धरातल की खोज में अन्तिम क्षण तक छटपटाता हुआ मर गया। यह मौत प्रामाणिक अनुभूतियों या संत्रस्त आत्मा की मौत नहीं, केवल वर्त्तमान को जीवन का अन्तिम और चरम सत्य मान लेने और उसे सिद्धान्त बना कर ओढ़ने के बहाने की मौत है। बहाना आधार नहीं देता, देता है मौत ? राजकमल के जीवनगत अनुभव और उसकी मृत्यु इसी सत्य का साक्ष्य प्रस्तुत करती है। नयी पीढ़ी को राजकमल ने जीवन और राजकमल के साहित्य ने एक निश्चित दिशा-संकेत

दिया है इसमें कोई दो राय नहीं। उसका जीवन एक महत्वपूर्ण प्रयोग था और उसकी मृत्यु उस प्रयोग की प्रारम्भिक असफलता !

प्रयोग उसे बहुत प्रिय थे। सच और झूठ के प्रयोग, बेईमानी और ईमानदारी के प्रयोग, उसने जीवन में भी किये और साहित्य में भी। इसीलिए मुझे लगता है कि उसके सम्पूर्ण साहित्य को उसके व्यक्तित्व के परिप्रेक्ष्य में रख कर देखना आवश्यक है। उसका व्यक्तित्व ही उसके साहित्य का निकष हो सकता है। अन्यथा उसकी प्रतिबद्धता और प्रामाणिकता पर प्रश्न-चिन्ह लगा रह सकता है।

उसके उपन्यासों में (सम्भवतः) एक ही उपन्यास ऐसा है, जो उसके व्यक्तित्व को अलग रखकर भी पढ़ा जा सकता है, समझा जा सकता है : 'शहर था शहर नहीं था।' यह उपन्यास भी एक कथा-प्रयोग ही है। इस उपन्यास की अब तक विशेष चर्चा नहीं हुई। चर्चा उसने 'मछली मरी हुई' की करवानी चाही, इसीलिए लेस्बियन समस्या को उसने अभिव्यक्ति का केन्द्र बनाया। अपनी एक पुरानी कहानी के नायक निर्मल पद्मावत को उठा कर उसने यह जाल बुना और भीड़ पर फेंक दिया। भीड़, जाल के छिद्रों में से स्त्रियों की समलैंगिक यौन तृप्तियों के तमाशे देखती रही। और इस उपन्यास के माध्यम से शायद राजकमल ने और कुछ नहीं चाहा।

'शहर था शहर नहीं था' से भी उसने शायद बहुत कुछ नहीं चाहा। किन्तु इसमें उसका मन्तव्य वैसा कुछ नहीं था, जो 'एक अनार एक बीमार' या 'मछली मरी हुई' के माध्यम से स्पष्ट होता है। इसीलिए राजकमल इस उपन्यास में प्रायोगिक होकर भी बहुत संयत है। उसका यह कथा-प्रयोग उसके अन्य सभी कथा-प्रयोगों की अपेक्षा मुझे विशिष्ट लगता है।

पटना की एक नयी बस्ती इस उपन्यास का आधार है। इस स्थल को ही इसका नायकत्व मिला है। वैसे नायक कोई एक नहीं है। कमलनाथ, सच्चिदा, बादल, रायसाहब या बंका, ललिता, लेडी नूर मुहम्मद, झरना, कान्ती, चन्दन, बन्दना, कोई भी नायक-नायिका नहीं है। या, सभी नायक नायिकाएँ हैं। राजकमल की दृष्टि सभी पात्रों पर बराबर पड़ी है। सभी के अन्तर को उसने गहरे में जाकर टटोला है और फिर चित्रित किया है। वह एक घटना को लेता है और उसे 'फ़ोकस' करता है। यह घटना किसी क्रम में नहीं चलती; किन्तु उस स्थल-विशेष को और अधिक परिचित बनाती है। इस उपन्यास में उसका डीलिंग रूपकात्मक है।

कुछ खास घटनाओं और आँकड़ों को वह साधारण रूप में प्रस्तुत नहीं करता। काम की चीज़ पेश करके, बाकी सब कुछ फेंक कर कथा प्रवाह नहीं

बढ़ाता। वह प्रत्येक वस्तु की 'डीटेल' में जाता है। यह 'डीटेल' प्रस्तुत करना इतना खूबसूरत है कि इससे बोरियत भी नहीं होती और उपन्यास का प्रवाह भी कहीं मन्दं नहीं होता।

रूपकात्मक डीलिंग अकारण नहीं, सकारण है। क्योंकि यह कई स्थलों पर है। लगभग सभी अध्यायों में। उदाहरण के लिए लेखक कुसुमपुर के सम्बन्ध में जानकारी देते समय उस बस्ती के सम्बन्ध में अखबार में छपे हुए आंकड़े पेश करता है :

'अखबारों में छपे हुए आंकड़े :
(कुसुमपुर के बारे में)

समय-सीमा : जनवरी १९६३ से जुलाई १९६३

घटनाएं	संख्या
मकान बनाने या बिजली फ़िट करने में	
आकस्मिक दुर्घटना से मृत्यु	७
चोरी गये बालक-बालिकाओं की संख्या	१४
आत्महत्या (पुरुष)	●
आत्महत्या (स्त्री)	२
स्त्रियों से छेड़खानी की घटनाएं	८२
बलात्कार (दर्ज रिपोर्ट के आधार पर)	२४

(शहर था शहर नहीं था : पृष्ठ १५)

इसके अतिरिक्त उसने यह प्रयोग जगह-जगह किया है। चन्दना-बन्दना की फ़ांस (१) पब्लिक शो में, (२) प्राइवेट शो में, (पृष्ठ २६), बीमा कम्पनी की नयी बिल्डिंग का निजी बजट (पृष्ठ ३८), दस व्यक्तियों की लिस्ट (पृष्ठ ४१) डायलॉग दिलीप कुमार का (पृष्ठ ५५), भाई-बहन के जोड़े की एक फ़िल्मी बातचीत का अंश (पृष्ठ ६१), अंकों का सिलसिला (पृष्ठ ८१), विमानचन्द्र झा का ब्यौरा (पृष्ठ ९०) बंका के विवाह के लिए विज्ञापन (पृष्ठ १०१), बादल की बातचीत फ़िल्मी स्टाइल में(पृष्ठ १०२) चलती गाड़ी में तीन सखियों का वार्तालाप (पृष्ठ १२४), आदि !

इस रूपकात्मक उपन्यास की एक और विशेषता है—कथा-क्रम की संयोजना का अभाव। विशेषता इसलिए कि कथा-क्रम का अभाव भी इसे उपन्यास बनाये रखने में बाधक सिद्ध नहीं होता है।

लेकिन फिर भी,यह राजकमल की विशिष्ट रचना होते-होते रह गई। शायद इसलिए कि इसके माध्यम से वह पाठकों को चौंका नहीं सका। चौंकाना या चमत्कृत करना उसके साहित्य का प्रयोजन था। उसके साहित्य का भी और उसके जीवन का भी।

'अगर धूमकेतु की तरह चमक कर बुझ जाने की सम्भावना हो, तो क्यों नहीं टूट लिया जाए ? क्या होता है प्रेम ? क्या होता है दाम्पत्य सुख ? क्या होता है परिवार ? क्या होता है समाज ?

(नदी बहती थी : पृष्ठ २७)

और उसने समाज की मर्यादाएँ तोड़ीं। परिवार की सीमाएँ नहीं मानीं। दाम्पत्य सुख को अस्वीकारा। प्रेम की परिभाषाएं बदलीं। और अन्त में, धूमकेतु की तरह चमक कर बुझ गया। सब कुछ तोड़ने की चेष्टा में खुद ही टूट गया। ●
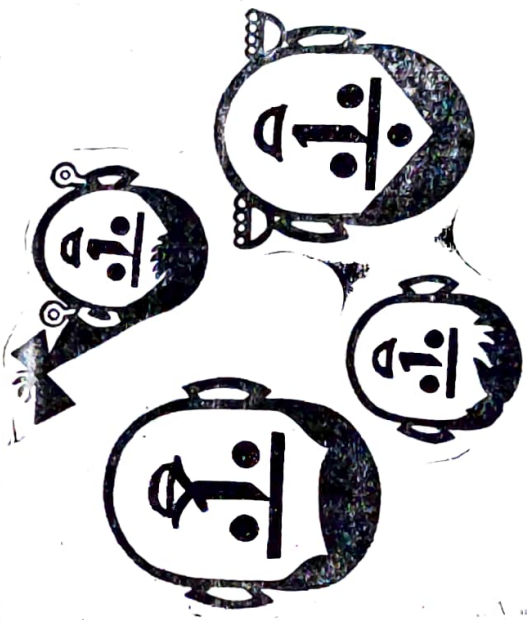
'एक अनार : एक बीमार' : अशेष कथा का विवश सत्य

प्रसन्न ओझा

•

राजकमल की रचनाओं में एक विशृंखलता, बिखराव और सूत्रहीनता है! वे 'ओरिएण्टल आर्टिस्ट' की तरह अपने चित्रों को काट-तराश और मांज-निखार कर 'अप्रतिम' बनाने में विश्वास नहीं करते; वरन् उनके चित्रों में एक सहज अनगढ़ता है, जो उन्हें पिकासोई कला के निकट खड़ा कर देती है।

'एक अनार : एक बीमार' राजकमल चौधरी की चौबीस पृष्ठीय एक लम्बी कहानी है, जिसके लिए लेखक ने कहा है : 'इतनी छोटी किताब को 'उपन्यास' का इतना बड़ा नाम देना, अच्छा नहीं लगता है।'

कथाकार के शब्दों में प्रस्तुत कथा-रचना में 'ईश्वर और सीता के माध्यम से, इसमें कलकत्ता के समकालीन मध्यवर्गीय जीवन को यथार्थ विरोधाभासों में लिखने की कोशिश हुई है।' 'एक अनार : एक बीमार' में ईश्वर और सीता के जीवन-खण्ड की एक छोटी-सी 'बड़ी कहानी' है। साधारण पात्र और सामान्य परिवेश की संक्षिप्त किन्तु जीवन्त संवेदना की गाथा!

शरीरगत विवशताओं के सैंकड़ों सन्दर्भ ऐसी कथा की रचना करते हैं, जिसका रेशा-रेशा पारम्परिक विश्वासों और क्षय होते जीवन-मूल्यों का उपहास उड़ाते हुए उसे एक नये प्रामाणिक और अनुभूत सत्य के निकट स्थापित करने का प्रयास करता है। आदमी और जानवर—दोनों के पारस्परिक अन्तरों की मर्यादाएं जहां नगण्य प्रतीत होती हैं।

'सीता' और '[illegible]' के प्रतीक युगीन विरोधाभासों की घिनौनी प्रक्रिया के बीच होकर गुजरते हैं—घुटी हुई [illegible] के अभिशाप से ग्रस्त!

अन्तर्विरोध की अंधेरी [illegible] व्यक्तियों का थाह लेते हुए कथाकार एक अनाम सत्य को उजागर करने की [illegible] में है। उसके इस प्रयत्न—वीभत्स यथार्थ को प्रस्तुत करने की सच्चाई और पवित्रता उन रेंगते हुए चींटों से

प्रमाणित होती है, जो सीता के बेडौल जिस्म के अंगों पर फिसलते हैं। सौष्ठवनिष्ठ देह के कोमल अंग मानवीय सम्बन्धों की पवित्रता या उदात्तता नहीं बिखारें, वरन् अंधी घाटियों की विकृत और मारक बीमारियों के शिकार होते हैं। भयभीत सांप की कुण्डली से घिरी यह सच्चाई किसी को नहीं बख्शती।

भयावह निरर्थकता और निष्क्रियता के बोध से ग्रस्त कथा-नायक ईश्वर का जीवन विरोधाभासों से भरा है। उसे कहीं सन्तुलन और ठहराव नहीं मिलता। राजकमल ने 'ईश्वर' और 'सीता' के माध्यम से समकालीन जीवन की विद्रूपताएँ, अन्तर्विरोध, विकृत सम्बन्धों की नग्नता एवम् सामाजिक विघटन-जन्य यातनाएँ रूपायित की हैं। ईश्वर को लगता है कि उसकी मर्जी से कहीं कुछ नहीं होता है। 'औरतें जहां और जब चाहती हैं, अपनी इच्छा से गर्भ धारण कर लेती हैं।' इसलिये अब ईश्वर भी किसी की मर्जी से कुछ नहीं करता। मुफ्त का तमाशा देखता है। मज़ा लेता है।

'ईश्वर और सीता की यह कथा समय-सापेक्ष नहीं है, इसीलिए शब्द-सापेक्ष भी नहीं।' ....'यह ईश्वर, वही ईश्वर था, जिसने यह शहर, यह दुनिया बनायी थी। यह सीता, वही सीता थी, जो क्षीर-सागर से अमृत-कुम्भ के साथ निकली थी, और सीधे ईश्वर के पास चली गयी थी।' ....यही ईश्वर शराब पीकर, गोश्त खा कर सड़कों पर बदहवास चीखता है और उसके जर्जर अस्तित्व के सारे आन्तरिक संगठन बिखर जाते हैं।

सीता और ईश्वर के अस्तित्व की इस नयी विराट लीला का स्रोत महानगर है, जो कलकत्ता भी हो सकता है। महानगर की कुत्सित भावनाओं का यह सत्य इतना दुर्द्धर्ष और दुर्दम्य है कि पेशाबघर कलकत्ता के जीवन का बेहतरीन प्रतीक बन जाता है। पाखाने के लिए दिये गये डालडा के टिन में मेहतर सुराख कर देते हैं, जिससे पानी के जल्दी बह जाने के भय से आप शीघ्र बाहर निकलकर दूसरों को मौका दे सकें। यह सुराखों वाली बदसूरत जिन्दगी उसी ईश्वर की देन है, जो रिज़र्व बैंक की दीवारों में चुन दिया गया है या लक्ष्मीनारायण मन्दिर में। कहीं भी। कोई फर्क नहीं पड़ता है।

यह ईश्वर इतना निर्जीव है कि 'वक्त के बहाव में एक भारी टुकड़े की तरह रुक जाता है। वह एक कदम भी आगे नहीं बढ़ेगा। [illegible] नहीं। लेकिन बहाव का पानी धीरे-धीरे [illegible] करता रहेगा, और एक वक्त ऐसा आयेगा, जब किसी सिनेमाघर की कुर्सी [illegible] किसी रेस्तरां के काउण्टर, किसी पब्लिक बाथरूम से वह अचानक गायब हो जायगा, हवा में घुल-मिलकर गायब हो जायगा, जैसे खुली बोतल से फास्फोरस खत्म हो जाता है।'

धुएँ के इन्कलाबों के कारण ही दक्ष प्रजापति, रावण, कंस, दुर्योधन से लेकर ख्रुश्चोव-माओ-त्से-तुंग तक की दुनिया अभी तक बही है। आकाशवाणी से पंचवर्षीय योजनाओं के बारे में नाटक और गीत पेश करने या स्तालिन की लाश क्रेमलिन की दीवार से उखाड़कर वोल्गा नदी में बहा देने से कोई फ़ायदा नहीं।

दस की शराब और पाँच की औरत, यही मंत्र कारगर होता है।

इसी कटु और नग्न वास्तविकता को कथाकार दो सन्दर्भों के द्वारा और तीखा बना जाता है—सोफ़िया लोरेन और चार्ली चेपलिन!........'स्याह फ्रेम में बुत की तरह जकड़ी हुई 'टू वूमन' की सोफ़िया लोरेन के कमरे के बाहर लोग सिर झुकाये, आँखों पर सफ़ेद पट्टी बांधे बेहद खामोश गुजर जाते हैं और बारूदी वातावरण में एक आदमज़ाद अपने थरथराते पंजों में उसके पके हुए स्तन निचोड़ लेता है।'....मातृ-सत्तात्मक पशुता के अस्तित्व की व्याख्या! और दूसरा सन्दर्भ : ट्रेजेडी और कॉमेडी के मिलन-बिन्दु पर झूलता हुआ 'लाइमलाइट' में चार्ली चेपलिन!

सीता की समय-विहीन कथा में कहीं मुक्ति नहीं है, क्योंकि ईश्वर उसे जनक, बालि, विन्ध्याचल, रावण, अमरसिंह या कलकत्ता से कहीं मुक्त नहीं कर पाता है।

राजकमल की यह रचना उनकी अन्य कथा-रचनाओं से कुछ अलग धरातल पर अवस्थित है। यद्यपि विकृत यौन-सम्बन्धों का यथार्थ 'एक अनार : एक बीमार' का प्रमुख विषय है, फिर भी इससे इतर समाज और व्यक्ति की आन्तरिक परतों के निर्मम उद्घाटन के प्रति कथाकार की रचना-दृष्टि सम्पृक्त रही है। यथार्थ के निर्मम उद्घाटन की इस प्रक्रिया में उसे 'अश्लील प्रसंगों' की नियोजना भी करनी पड़ी है। और परम्पराजीवी, तथाकथित पवित्रतावादियों और 'साहित्य में अश्लीलता' आरोपित करने वाली 'पुलिस मनोवृत्ति' के लोगों के लिए भूमिका में ही राजकमल की हिदायत है कि वे 'लोग यह किताब नहीं पढ़ें, उनकी [illegible] के लिए यही अच्छा रहेगा।'

'एक अनार : एक बीमार' के कथा-सूत्रों के रचनात्मक संघटन की एक ऊपरी सतह पर [illegible]-सी प्रतीत होने वाली इस विशिष्टता यह भी है कि [illegible] की कई गूढ़ परतें सक्रिय हैं। उपन्यास, कहानी, कविता [illegible] 'पुनर्रचनाकर्मी' को कई [illegible] करती हुई परस्पर संक्रमित होती प्रतीत होती [illegible] इन [illegible] का आग्रह [illegible] अनिवार्यताएँ टूटती दिखाई देती हैं

दुर्गन्धियों में किरणमाला की खोज और मैथिली का युग-कवि

जीवकान्त झा

एक लड़का था। उम्र तेरह-चौदह साल। वह हमेशा अपने को सारी दुनिया से कटा-कटा महसूस करता था। उसकी अपनी माँ नहीं थी। वह हमेशा अपनी तीसरी माँ से लड़ता-झगड़ता रहता था : कभी नीली-लाल पेंसिल के टुकड़े के लिये, कभी किसी चीज के खाली डिब्बे के लिये। उसकी तीसरी माँ, उसकी हम-उम्र थी : चौदह-पन्द्रह साल की। जैसा स्वाभाविक है, डाँट कभी भी माँ पर नहीं पड़ी, डाँट पड़ती रही लड़के पर। और लड़का दिन-दिन पिता से, माँ से, इन सारे सम्बन्धों से, सारी भीड़-भाड़ से अलग होता गया। इसी का परिणाम था कि एक दिन लड़के ने अपने बाप से कह दिया : 'जाईये, मैं आपका बेटा नहीं हूँ। आपको मेरे हाथों की आग नहीं मिलेगी.......' इतने संघर्ष, इतनी कटुता और इस [illegible]ग्रह का फल था कि लड़के ने पिता का घर छोड़ दिया, अपना गाँव छोड़ दिया, सार[illegible] सम्बन्धों को त्याग दिया और चल पड़ा इस सृष्टि का अर्थ खोजने—कि लोग जीना [illegible]यों चाहते हैं ? जीते क्यों हैं..... आदमी कभी जवान नहीं हो[illegible] है। आदमी क[illegible] बूढ़ा नहीं होता है! [illegible] आदमी के मन में एक किशोर—आत्मलीन और जि[illegible] [illegible] है। और वही उस आदमी [illegible] करता रहेगा, और [illegible] ऊपर से चाबुक फटकारता रहता है [illegible] की कर्म[illegible] [illegible] अर्जि होना चाहिये, लड़का ३६-३७ साल का हो गया और उसने पिता की मृत्यु (जैसे सभी लोगों की होती है) १० जनवरी, १९६[illegible] को हो गई। सात भाइयों में

सबसे बड़ा होने के कारण पितृ-कर्म करने के लिये तार आया। मगर, लड़कपन में खाई हुई सौगन्ध कायम रही। परिवार के लोग दाह-कर्म के लिये सिमरिया गये और वह विद्रोही किशोर उग्रतारा के मन्दिर में बैठकर रात भर निशा-पूजा करता रहा—आत्मलीन, समाधि-लीन !

उस लड़के का नाम था : फूल बाबू। फूल बाबू प्यार का नाम था। मगर स्कूल में लिखाया गया : मणीन्द्र चौधरी। जब उसने लिखना शुरू किया तो, मैथिली में लिखा। लेखक का पहला नाम था : मणीन्द्र चौधरी 'राजकमल'। बाद में केवल राजकमल चौधरी रह गया।

मैथिली में राजकमल चौधरी के समस्त कृतित्व को जब हम एक नजर में देखना चाहते हैं, तो पाते हैं कि राजकमल का कथ्य आयातित और ओढ़ा हुआ फैशन नहीं था। वह था, उनके वैयक्तिक भोग की अभिव्यक्ति ! इसीलिये जब उन्होंने लिखा था :

जीवनक एहि समय-दाहक महावनमे, कतेक युगसँ
ताकि रहल छी—
कोनो अरूप देवतापर चढ़ाओल गेल किरणमाला
हम सभ अनिकेत, अपराजित;
एकटा हेरायल रस्ता
एकटा हेरायल स्वप्नक लाल उज्जर तारतम्य,
एकटा हेरायल मुख ककरो,
हम सभ अनिकेत, अपराजित कतेक युगसँ ताकि रहल छी
जीवनक एहि प्राण-पावक महावनमे
किरणमाला

[जीवन के इस समय-दाहक महावन में, कितने युगों से
खोज रहा हूँ—
किसी अरूप देवता पर चढ़ाई गई किरण[illegible]
हम सभी अनिकेत, अपराजित,
एक खोया हुआ रास्ता
एक खोये हुए स्वप्न[illegible] [illegible]तम्य,
[illegible] [illegible]ज रहे हैं
[illegible]
कि[illegible]णमाल[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ये सारी चीजें आत्म-भोग की, निश्छल तो [illegible]श्चर्य [illegible]हीं होता [illegible] उसके [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]-घटाया हुआ नहीं है। ज्यों-का-और [illegible] अ[illegible]व्यक्ति हैं, [illegible] [illegible]

त्वों, पूर्वाग्रह-हीन, राग-द्वेष-हीन एक बेलाग अभिव्यक्ति है। उनका व्याकरण और उनकी शब्दावली, उनकी वैयक्तिक थी। आधुनिकता को उन्होंने प्राचीन प्रतीकों, पौराणिक पात्रों और घटनाओं के माध्यम से व्यक्त किया है। प्रतीक सारे परिचित होते हुए भी नया अर्थ देते हैं, क्योंकि उन्हें नये नये ढंग से छुआ गया है, और प्रयोग से पहले उन पर एक नयी पालिश चढ़ाई गई है। उनके जीवन का भटकाव, और अकेलापन और अजनबी रहने की नियति किताबी नहीं थी। वे अपनी तलाश को इस प्रकार व्यक्त करते हैं :

आबो मथि रहल छथि नीर-सागर,
देव-दानव अविवेकी····
[अब भी मथ रहे हैं नीर-सागर,
देव-दानव अविवेकी,
अब भी नचिकेता हमेशा पूछता है धर्मराज से
जीवन और मृत्यु का रहस्य;
अब भी एक अश्वत्थामा-हाथी निहत होता रहता है
किसी युधिष्ठिर के
सत्य और नैतिकता के सुरक्षार्थ
—मगर,
ये सारे पौराणिक दुष्काण्ड होते रहते हैं, इसी महावन में !
हमी लोगों के अन्तरंग में होता रहता है
द्रौपदी-चीर-हरण
और, राजा जनमेजय का विख्यात नागयज्ञ !]

और इस प्रकार गाँव-घर, भाई-बन्धु, माँ-बाप सबको छोड़-छाड़कर अकेले भटकने में कितना कुछ सालता रहा होगा, कितना कुछ टूटता रहा होगा, इसे उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है :

प्लेटफार्म शीत-पाला में बैसलि एक [illegible] एकसरुआ
तीर्थयात्रिणी गाबि रहल छल····
[प्लेटफार्म पर शीत-पाला में बैठी हुई एक अकेली
तीर्थयात्रिणी गा रही थी [illegible]
गंगा-वास से गाँव लौट आने के दुःख से प्रेरित और [illegible]
कोई बटगमनी, कोई गुह [illegible] करता रहेगा, और [illegible]
ऊपर के बर्थ पर खर्राटा भरता हुआ [illegible] किहानी [illegible]
दूकानदार, कल से फिर वही कपड़े का [illegible] और उसके [illegible]
इंच भर घूंघट डाले हुए एक नयी दा[illegible]

ट्रेन की खिड़की से उस पार, जाड़े के अंधेरे में
खोज रही है कोई एक फूल का गाछ।
यूं ही मुझे चिल्लाने की इच्छा होती है—
ओ राजकमल, ओ राजकमल,····बार-बार यह अपना ही नाम !
नाम सुनकर, प्रायः कोई एक परिचित आदमी
मेरे पास आये, आ जाये
कोई एक मुस्काता हुआ फूल, किसी का एकान्त स्मरण-चिन्ह
मेरी उँगली में, हौले से दबा जाये।
अब थोड़ी देर के बाद, खुल जायेगी यह गाड़ी
साँप की तरह रेंगेगी;
काले धुएं का एक बवण्डर, मेघ-सा फैलेगा
नहीं सुन पायेगा कोई तीर्थयात्रिणी की गुहार·······
नई दुलहन को नहीं मिलेगा फूल-गाछ;
मेरी आँख में कोयले का टुकड़ा आँसू बन जायेगा
मुझे पहचानने के लिये, अब
इस अंधेरी ट्रेन की कोठरी में
कोई नहीं आयेगा, अब कोई नहीं।]

उनका सागर-मंथन चलता रहा। जीवन के रहस्य की तलाश होती रही··· जीवन को तलाशता हुआ नचिकेता क्रुद्ध पिता के अभिशाप से यमराज के मुँह में ठेल दिया गया। १९६६ तक आते-आते वे अनेक बीमारियों से ग्रस्त हो गये और उस समय की उनकी सारी रचनाओं में उनकी मृत्यु की परछाईं पड़ती है। मगर, उनमें यह बड़ी खूबी थी कि वे अपने आपको अपने-आप से अलग करके देख सकते थे; अपनी मौत से साक्षात्कार कर सकते थे; और फिर इन सारी चीजों को तटस्थ निर्विकार और अनुद्विग्न होकर देख सकते थे। 'मुक्तिप्रसंग' लिखने के पहले उन्होंने लिखा [illegible] :

अन्हारमे भेटैत अछि अतीत-प्रेतक [illegible]-वृक्ष अनेक !
पयरतर ओंघड़ाइत छथि स्वर्ग-पतित
अप्सरा ! [illegible]
[illegible] यह [illegible] राजकमल [illegible] के अनेक शव-वृक्ष
[illegible]
अप्सराएं !
आँखों [illegible] जाड़े [illegible] काँपते [illegible] अनेक पाखी !
उचारता [illegible] एक काला-पीला [illegible]

मेरा ही नाम
चलो रे कवि, इस बार तुम्ही चलो भुतहा मसान
खप्पड़ में भूँजो तुम्ही अपने प्राण।]

१९६६ की बीमारी से उबरने के बाद वे अपने पैतृक गाँव महिसी (जि० सहरसा, बिहार) चले आये। गाँव में रहने वाले इस कवि की तीन मनःस्थितियों का विवरण उनके लिखे पत्रों से ज्ञात होता है।

पत्र १ : प्रियवर, आन कोनों उपाय नहि पाबि, गाम चल आयल छी,—उग्रतारा अही ठाम छथि। मरि दशमी एत्तहि रहब। चम्पारोगक प्रकोप किछु कम भेल अछि। गामक शान्त-स्वच्छ परिवेशमे आनो Complications घटल जाइत अछि।····हम मात्र २१ बर्खक उपरान्त अप्पन गाम आयल छी। तैं एहि ठाम बड्ड मोन लागि रहल अछि। गामक कातसँ कोसीक विराट 'बाँध' जाइत अछि। ओहि पार अपार जलराशि, एहि पार हरिअर धरती। साँझ खन उग्रतारा-मन्दिर जाइत छी। शतरंज खेलाइत छी। भाँग पिबाक इच्छा करैत छी (पिबैत नहि छी)। आरो कतेक की करैक इच्छा करैत छी,—जेना, कोनों आन्हर, बताहि, कारी, पियासलि स्त्रीसँ प्रेम! एहि स्त्रीक नाम भेल उग्रतारा!····सप्रेम, राजकमल २१-९-६६

[प्रियवर, दूसरा कोई उपाय नहीं देखकर, गाँव चला आया हूँ,—उग्रतारा यहीं हैं। दशमी तक यहीं रहूंगा। चम्पारोग का प्रकोप कुछ घटा है। गाँव के शान्त—स्वच्छ परिवेश में दूसरे Complications भी घटते जा रहे हैं।·······मैं केवल इक्कीस सालों के बाद अपने गाँव आया हूँ। इसी से यहाँ बहुत दिल लग रहा है। गाँव के किनारे से कोसी का विराट बाँध जाता है। उस पार अपार जलराशि, इस पार हरी धरती। साँझ में उग्रतारा-मन्दिर जाता हूँ। शतरंज खेलता हूँ। भाँग पीने की इच्छा करता हूँ (पीता नहीं हूँ)। और भी बहुत कुछ करने की इच्छा करता हूँ,—जैसे, किसी अन्धी, पागल, काली, प्यासी स्त्री से प्रेम! इस स्त्री का नाम हुआ उग्रतारा।····सप्रेम, राजकमल २१-९-६६]

पत्र २ : प्रिय जीवकान्त, हम गामहि छी। बीचमे एक बेर कलकत्ता गेल छलहुँ। एकटा दुर्घटना एहि मध्यमे [illegible] गत १० जनवरी कें स्वर्गवासी भेलाह।····आब घर-परिवारक [illegible] पड़ल अछि। तीन टा अनुज [illegible] रहेगा, और [illegible] आगाँ बर्ख कराइए पड़त। पितृ-श्राद्ध मे [illegible] कहाँ [illegible] गेल ···· मुदा, एहिसभ समस्यासँ हम विचलित [illegible] उसु[illegible] [illegible]मि गोविन्दऽ नहि छी। हम अप्पन मुक्ति आ स्वच्छन्[illegible] रखैत [illegible]रिवार क प्रति अप्पन दाय आ दायित्व कें सँभारि लेब,—ई हमरा विश्वास अछि।···· आशा अछि, अहाँ ग्राम—आनन्द (आ, की ग्राम्य-आनन्द?) मे तल्लीन छी। एहेन इजोरिया राति—आइए पूसी पूर्णिमा थीक—एहेन कबई माछ—एहेन 'जुआन' जोरगर गोंढ़ि-कन्या····मनुक्ख कें मुक्तिक लेल आन किछु नहि चाही। हमरा लेखें ने देश मे अकाल पड़ल अछि, आ ने हम कोनों दुःखक अन्हार में डूबल छी। उम्मेदबार एम. एल. ए., एम. पी. आदिक जीप, मोटर, साइकिल प्रतिदिन दलान लग ठाढ़ होइत अछि। प्रतिदिन हम पहिनें सँ वेसी स्वस्थ आ शान्त भेल जाइत छी। गाम सँ आब अटूट 'लागि' भय गेल अछि। कवि राजकमल आब सभ दिन गामहि रहताह। एक बेर अहाँ हमरा गाम आउ·······सस्नेह, राजकमल २७-१-६७

[प्रिय जीवकान्त, मैं गाँव में ही हूँ! बीच में एक बार कलकत्ता गया था। एक दुर्घटना इस बीच में हो गई कि मेरे पिता गत १० जनवरी को स्वर्गवासी हो गए।····अब घर-परिवार का सारा बोझ सिर पर आ गया है। तीन अनुज कालेज में पढ़ रहे हैं; एक बहन का विवाह अगले साल करना ही पड़ेगा। पितृ-श्राद्ध में दस हजार रुपया खर्च करना पड़ा।····मगर, इन सभी समस्याओं से मैं विचलित अथवा 'किं करोमि गोविन्दऽ' नहीं हूँ। मैं अपनी मुक्ति और स्वच्छन्दता को सुरक्षित रखता हुआ परिवार के प्रति अपने दाय और दायित्व को संभाल लूंगा,—यह मेरा विश्वास है।····आशा है, आप ग्राम-आनन्द (अथवा ग्राम्य-आनन्द) में तल्लीन हैं। ऐसी चाँदनी रात—आज ही पूस की पूर्णिमा है, ऐसी कबई मछली—ऐसी जवान मजबूत मछेरिन····आदमी को मुक्ति के लिये और कुछ भी नहीं चाहिये। मेरे लिये न देश में अकाल पड़ा है, और न मैं किसी दुःख के अन्धेरे में डूबा हुआ हूँ। उम्मीदवार एम. एल. ए., एम. पी. लोगों की जीप, मोटर, साईकिल प्रतिदिन दरवाजे के सामने खड़ी होती हैं। गाँव से अब अटूट 'लगी' हो गई है। कवि राजकमल अब सदा गाँव ही [illegible]गे। एक बार आप मेरे गाँव आईये····सस्नेह, राजकमल.२७-१-६[illegible]

पत्र ३ : प्रिय जीव०, कतेक दिनसँ कोनों समाद नहि। कारण ?····हम कैक दिवससँ पटना छी। [illegible]व गाम घरि [illegible] आब शहर, बजार, 'मेड-अप' [illegible] किछु नीक नहि लगैत अछि। नीक लगैत आदि [illegible] अछि, कोनों झमटगर स्त्री-गाछक [illegible] बसल, आन सभ किछु बिसरि जायब [illegible] बिसरि जायब, मोन रहि जायत कबई माछ [illegible] जोड़ आँखि, [illegible] आँखि, आ समुद्र। कारी, शान्त, मृत,

एकटा अनन्त समुद्र····राजकमल २७-४-६७

[प्रिय जीव०, कितने दिनों से कोई संवाद नहीं। कारण ?····मैं कई दिनों से पटना में हूं। अब गांव लौट जाऊंगा। अब शहर, बाजार, 'मेड-अप' औरतें, रेस्तरां, पुराने मित्र, कुछ भी अच्छे नहीं लगते हैं। अच्छा लगता है एकान्त। अच्छा लगता है अन्धकार। अच्छा लगता है, किसी शीतल घनी छांह-वाली स्त्री गाछ की (ध्वनि रति-विपरीत नहीं है) छाया में बैठा हुआ, और सब कुछ भूल जाना·········भूल जाऊंगा, मैं सब कुछ भूल जाऊंगा। याद रह जायेगी कबई मछली जैसी एक जोड़ी आंखें, उजली-नीली आंखें, और समुद्र। काला, शान्त, मरा हुआ एक अदद अनन्त समुद्र········राजकमल २७-४-६७

इन तीनों पत्रों को एक साथ मिलाकर पढ़ने से कुछ बातें स्पष्ट हो जाती हैं। इक्कीस वर्षों के बाद गांव जाने पर नये जीवन का उल्लास दिखाई देता है। उसके बाद जिम्मेदारियां और भोग····। फिर, कुछ ही दिनों में थकान और उल्लास की कमी अपना फन पटकने लगती है और शुरू-शुरू का उल्लास और मध्य का संकल्प डोल जाता है और एकान्त और शान्ति की इच्छा सबसे मुख्य हो जाती है। स्पष्ट कहें, तो देहावसान की तैयारी शुरू हो जाती है। अप्रैल के अन्तिम सप्ताह तक उभरा हुआ अवसाद बहुत घना हो जाता है। और १७ मई को वे पटना में बीमार हो जाते हैं। बीमारी में ही वे महिसी लौट जाते हैं और अन्त में फिर पटना। अस्पताल में भर्त्ती होने पर वे अपने एक मित्र से कहते हैं: 'मैं इस बार बचूंगा नहीं उपाध्याय, मां नाराज हो गई हैं················'

मैथिली साहित्य में जब इस कवि और कथाकार का मूल्यांकन करना चाहते हैं, तो हमें मैथिली के इतिहास के पन्नों में झांकने की जरूरत महसूस होती है। स्पष्टतः इतिहासकारों ने मैथिली के इतिहास में सन् ४७ की एक तिथि-रेखा से बीसवीं सदी को दो खण्डों में विभाजित कर दिया है। स्वतन्त्रता से पहले के मैथिली साहित्य में स्पष्टतः विद्यापति, गोविन्ददास प्रभृति गीतकारों का बहुत व्यापक प्रभाव था। वैसे बीसवीं सदी के आस-पास कवि चन्दा झा ने लीक से हटकर लिखने की कोशिश की थी और [illegible] दशक में कवि भुवन ने भी एक नये प्रकार के कथ्य की ओर स[illegible] [illegible] में विद्यापति के प्रभाव से बासी [illegible] रहेगा, और [illegible] साहित्य में भी एक नया स्पन्दन शुरू हुआ [illegible] कहानी [illegible] १९४९ [illegible] प्रकाशित हुई थी) मैथिली में 'यात्री' (हिन्दी [illegible] उसने [illegible] शब्दा-वली और कथ्य की एक नई, पहचानी [illegible] जमीन [illegible] स्थापन

लेकर आये। यात्री के आने में आवेग इतना तीव्र था कि पिछले सारे पीले पत्ते जो डालियों पर पड़े हुए थे, एकबारगी हड़हड़ा कर (मर्मर के साथ नहीं) गिर गये और दिशाओं में खो गये। कवि और कथाकर यात्री ने भावभूमि के साथ मैथिली को एक नई अभिव्यंजना से सुसज्जित किया। उन्होंने पहले-पहल पौराणिक प्रतीकों को नई अभिव्यंजना के लिये उठाया। यात्री के बाद उनके साथ हुए कवि सोमदेव और राजकमल। राजकमल की पहली कहानियां '५४,'५५ के आस-पास 'वैदेही' में छपी थीं। 'ललका पाग' कहानी को पढ़कर मैथिली का आभिजात्य पाठक चौंका था, क्षुब्ध हुआ था और आतंकित हुआ था। लोग राजकमल की शक्ति से स्तंभित तो हो गये थे, मगर उसे आत्मी-कृत करने के लिये प्रस्तुत नहीं थे। सन् १९५९ में राजकमल का पहला काव्य-संकलन 'स्वरगंधा' के नाम से निकला था। इसे आलोचकों ने कहा था: 'स्वरगन्धा' गन्हाइत अछि (बदबू करती है)।' संघर्ष छिड़ा था—पत्रिकाओं में, कवि-सम्मेलन के मंचों पर उग्र विवाद छिड़ा था। मगर, ये सारी प्रतिक्रियाएं मरती गईं और मैथिली की नई कविता समृद्ध होती गई। उसके बाद धीरेन्द्र, किसुन, धूमकेतु, रमानन्द रेणु, कीर्तिनारायण, कितने कवि आये और मैथिली का नया साहित्य बिहार में बहती हुई गंगा की धारा के समान परिपुष्ट हो गया। राजकमल ने जिस संघर्ष को न्योता था, उसके सामने उन्होंने सिर नहीं झुकाया, समझौता नहीं किया। उन्हें जो कुछ कहना था, वे कहते गये, चाहे कितने लोग सुनें या कितने लोग न सुनें, चाहे कितने लोग उसे पसन्द करें, चाहे गालियां दें। मगर, उन्हें जो कुछ कहना था, अप्रतिहत कहते गये। उन्होंने अपनी सैकड़ों कहानियों, एक उपन्यास (दूसरा उपन्यास शायद लिख रहे थे) और अनेक-सौ कविताओं में अपनी बात कही है, और अ-स्खलित आत्म-विश्वास के साथ कही है। उनके द्वारा छाना हुआ और उभारा हुआ प्रदेश एकदम अछूता था, उनकी शब्दावली और व्याकरण नया था।

मैथिली का नया साहित्य—स्वतन्त्रता के बाद का साहित्य, राजकमल का अपना और उसका सहगामी साहित्य है। राजकमल के खिलने और बिखर जाने के बारह वर्षों के इस युग की कल्पना राजकमल के बिना असंभव है। अतः यह युग 'राजकमल-[illegible] के मैथिली-साहित्य पर प्रत्यक्षतः [illegible] मैथिली की अभिव्यंजना उनसे समर्थ हुई है और [illegible] भूल सकता [illegible]।

मैथिली-[illegible] का [illegible], राजकमल की पंखड़ियों के झड़ जाने से पूर्व [illegible] है, मगर उसके जड़ की प्रत्येक बूंद में उसकी सुगंध (स्वर-गंध) फैली हुई है और आने वाले हजारों सालों तक फैली रहेगी। ● ●

SUNSHRINE
MODHERA

Reminiscent of the famous sun Temples at Konarak in Orissa, at Mertand in Kashmir and the Khajuraho temples in Madhya Pradesh, **The Sun Shrine at Modhera,** about 70 miles from Ahmedabad, still so vividly reminds us of the grandeur, grace and glory that marked Solanki era in the 11th century in Gujarat.

Every inch of the temple is carved with exquisite animal, floral, human and divine forms, moving in an unending pageant, depicting themes and scenes of love, joy and w... capturing in stone the very rhythm and pulse of life. The temple complex, compri...ing the main shrine, the arch of triumph and the sacred tank is an unfo...getable feast to the eyes.

For Statewide ... Information ... Contact
The Director of Information ... Tourism
Government of Gujarat, Sachivalaya, A...
At Bombay : Gujarat Govt. Tourist Office Dhan...
At Delhi : Gujarat Info...

कहने
की
आवश्यकता
नहीं

कलकत्ता में जैसे
विक्टोरिया मैमोरियल
वैसे ही

ग्वालियर सूटिंग

पहनने
वाले
व्यक्ति
भी अलग
ही
नजर
आते
हैं

वस्त्रों के प्रेमियों
के लि...

...भूल सकता...

GWALIOR FABRICS

मैथिली-साहित्य में राजकमल

वीरेन्द्र

एक अतीत, जो आज इतिहास बन गया है, मेरे समक्ष कौंध रहा है। '५१ से '५५ तक का वह काल मैथिली-साहित्य में 'वैदेही-युग' के नाम से पुकारा जाय तो अत्युक्ति न होगी। 'वैदेही'—मैथिली की एक मासिक पत्रिका, जि..के साये में मैथिली को नये भाव-बोध से परिचित कराने की दृढ़ इच्छा लेकर आने वाले सात नौजवान एक होकर आ जुटे थे।— ललित, वीरेन्द्र, सोमदेव, राजकमल, मायानन्द, योगिराज तथा हंसराज। इनमें से प्रायः प्रत्येक को महान् साहित्यकार 'यात्री' (नागार्जुन) का आशीर्वाद प्राप्त हुआ था। मैथिली में जिस तरह की चीज 'यात्री' देखना चाहते थे, वैसी ही चीज उन्हें इनके पास मिली और उनका प्रसन्न होना स्वाभाविक ही था।

'वैदेही' के पृष्ठों में सर्वप्रथम कहानी के क्षेत्र में नये प्रयोग हुए। विचार और शिल्प दोनों दृष्टि से ये कहानियाँ पूर्ववर्ती कहानी लेखकों की कहानियों से पूर्णतया भिन्न थीं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् ...मली निराशा और निरन्तर बढ़ती महँगाई से उत्पन्न आर्थिक विषमता एक ओर थी। बेकारी, राजनैतिक घुटन और जमींदारी—उन्मूलन से उत्पन्न बिखराव दूसरी ओर। यह एक तथ्य है कि इससे पूर्व मैथिली के ... साहित्यकार एक-दो अपवाद को छोड़, जमी... पर अब स्थिति दूसरी थी। नये लोगों के समक्ष नये ... भूल सकते ... का एक विराट-वर्ग या तो शहर की ... में ही कुंठाग्रस्त जिन्दगी व्यतीत करने लगा। उनकी आँखें अब सामन्तों द्वारा प्रदत्त चश्मे से मुक्त थीं और जिन्दगी का एक ... नये और नंगा-रूप उनके समक्ष नाच रहा था। यही

कारण है कि अपने इस नये भाव-बोध को अभिव्यक्ति देने के हेतु ऐसे नये मैथिली-साहित्यकारों ने अपने पूर्ववर्ती साहित्यकारों से पूर्णतया भिन्न-सी दीखती भाषा और शैली का प्रयोग किया। कहानी, कविता, उपन्यास, निबन्ध और आलोचना—प्रत्येक क्षेत्र में। यह भी एक सत्य है कि अपने पूर्ववर्तियों में मात्र 'यात्री' से ये मिलते-जुलते से लगते हैं, और किसी से नहीं।

'वैदेही' के पृष्ठों में कसबाई-जीवन से सम्बद्ध एवं नये शिल्प से युक्त कहानियाँ लेकर सबसे पहले 'ललित' आये। 'रमजानी,' 'प्रश्नचिन्ह,' 'ओवरलोड' आदि कहानियाँ भावना एवं शिल्प दोनों दृष्टियों से पूर्ववर्ती मैथिली कहानियों से पूर्णतया भिन्न हैं। 'ललित' के पश्चात् टूटते हुए ग्राम्य-जीवन से सम्बद्ध 'धीरेन्द्र' की कहानियाँ प्रकाशित हुईं। 'सभ्य-लोक,' 'गीध,' 'घंटी,' 'एक सदस्य,' 'सुगरक बाप' आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं। 'धीरेन्द्र' के पश्चात् 'सोमदेव' की चुटीले एवं मार्मिक व्यंग्य से भरी 'सावन-भादव' 'भूखक' 'कीटाणु' जैसी कहानियाँ प्रकाशित हुईं। और तब आये राजकमल। राजकमल चौधरी नहीं, मणीन्द्र राजकमल—की पहली मैथिली-कहानी 'वैदेही' में अक्टूबर '५४ के अ[illegible] में प्रकाशित हुई : 'अपराजिता'। हम खुश हुए थे, अपने जैसे एक और दोस्त को पाकर। 'ललका पाग', 'फुलपरासबाली,' 'चन्नरदास' जैसी कहानियों के द्वारा राजकमल ने मैथिली की नई कहानी को बल दिया। हंसराज, योगिराज और मायानन्द ने भी अनेकानेक कहानियों के द्वारा इस क्रम को पुष्ट किया। इन कहानीकारों को प्रारम्भ में कुछ असुविधाओं का सामना करना पड़ा, पर नयी ज़िन्दगी जीने वाले पाठकों के एक विशाल-वर्ग ने इनका स्वागत किया। और ये धीरे-धीरे मैथिली कहानी-साहित्य पर छाते गये। परवर्ती मैथिली कहानीकारों ने इनकी प्रणाली को अपनाकर उसे योगदान दिया। पीछे चलकर 'वैदेही' की स्थिति बिगड़ गई और तब 'मिथिला-दर्शन' एवं 'मिथिला-मिहिर' ने मैथिली [illegible] नई कहानी को प्रोत्साहन प्रदान किया तथा इस क्रम को बनाये रखा। 'मिथिला-[illegible]हिर' के कथा-अंक इसके प्रमाण हैं। राजकमल की 'माछ,' 'घड़ी,' 'माहुर,' [illegible] और 'साँझक गाछ' जैसी कहानियाँ 'मिथिला-मिहिर' में [illegible]

जहाँ तक राजकमल का प्रश्न है, उन्होंने मैथि[illegible] [illegible] में महत्वपूर्ण सहयोग [illegible]

कविता के क्षेत्र में 'यात्री' (नागाजु[illegible] [illegible]प्रदत्त [illegible] का आरम्भ में मात्र 'सोमदेव' विकसित करते रहे और अज्ञ[illegible] बने हुए '[illegible]रजा-डकैत' जैसी कविताएँ लिखते रहे। पीछे [illegible]लकर राज[illegible]मल, हंस[illegible] और धीरेन्द्र के साथ गीतकार मायानन्द ने भी इस दिशा में काम किया और मैथिली-कविता के क्षेत्र में भी एक नया परिवर्त्तन दृष्टिगोचर होने लगा। पर इस प्रकरण में राजकमल ने एक महत्वपूर्ण काम किया। उसकी नई मैथिली-कविताओं का संकलन 'स्वरगन्धा' के नाम से '५८ में प्रकाशित हुआ। इस सवक्तव्य-संकलन ने मैथिली नई कविता के आन्दोलन को बल प्रदान किया था। 'स्वरगन्धा' के प्रकाशनोपरान्त मैथिली पत्रिकाओं में परम्परावादियों एवं नये कवियों का खासा कविता-युद्ध चला था; पर धीरे-धीरे मैथिली की नई-कविता ने अपना स्थान बना लिया और आज इसका ही बोलबाला है। पर राजकमल मैथिली नई कविता के प्रथम प्रवक्ता कहे जा सकते हैं, प्रवर्त्तक नहीं। प्रत्युत हिन्दी क्षेत्र में जब उनकी कविताएँ लोगों को चौंका रही थीं, मैथिली में तब तक वैसी कविताएँ सहज रूप में गृहीत हो चुकी थीं और सोमदेव, हंसराज, धीरेन्द्र, [illegible]ायानन्द आदि के अतिरिक्त पचीसों कवि ऐसी ही कविताओं का सृजन कर [illegible]हे थे, जो अनुभूत तथ्यों को सहज अभिव्यक्ति दे रही थीं। तथ्यतः वे नई कविता के प्रबल पक्षधर थे। तथा 'महावन, हमर गाम थिक पुरबा बसात पछबा बसात', जैसी कविताओं के लिये मैथिली-साहित्य में वे सदा स्मरण किये जायेंगे। इस प्रसंग में 'मैथिली-मिहिर' में प्रकाशित स्वयं राजकमल का निबन्ध 'मैथिली कविता आ' हमरा लोकनि' अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है।

कविता और कहानी के अतिरिक्त उपन्यास की दिशा में भी राजकमल ने अपने साथियों के साथ मिलकर काम किया था। मैथिली में अब तक उनके तीन उपन्यास समक्ष आ चुके हैं। अन्यान्य उपन्यास हिन्दी में छपे। अपने तीन मैथिली उपन्यासों (पाथर-फूल, आन्दोलन, आदि-कथा) के द्वारा राजकमल ने अपने मित्रों—धीरेन्द्र (भोरुकवा), ललित (पृथ्वी-पुत्र), सोमदेव (पानोदाइ, ब्रह्मपिशाच) आदि का साथ दिया और मैथिली उपन्यास के क्षेत्र में भी नवीनता लाने की चेष्टा की।

कुल मिलाकर १०० कहानियाँ, ५०० कविताएँ, ३ उपन्यास, कुछ एकांकी एवं रेडियो-रूपक तथा चन्द आलोचनात्मक [illegible] उन्होंने मैथिली में प्रकाशित क[illegible] थे। वे मैथिली की नई पी[illegible] के प्रौढ़ लेखकों में माने जाते थे। अपनी मातृभाषा के प्रति उनकी [illegible]हरी निष्ठा थी। [illegible]टी की तलाश में जहाँ [illegible] गये हों, पर मैथिल[illegible] [illegible] की अभिवृद्धि में वे सदा सहयोग देते रहे।

मैथिल[illegible] [illegible] एक ऐतिहासिक-शृंखला की महत्वपूर्ण कड़ी थे। मैथि[illegible] [illegible] भूल सकते [illegible] मैथिली के इस मुक्ति-बोध को स[illegible] [illegible]

प्रगतिशील अजमेर

सं०	विवरण	इकाई	वस्तु-स्थिति १९५०-५१	वस्तु-स्थिति १९६५-६६
१	**पशुपालन**			
	पशु औषद्यालय एवं चिकित्सालय	संख्या	१७(१९५७-५८)	२२
	पशुधन	हजार संख्या	८७३	१६२१ (१९६३-६४)
	कुक्कुट	,,	१२	१७ (१९६३-६४)
२	**सहकारिता**			
	समितियां	संख्या	११८६	१७२७ (१९६४-६५)
	सदस्यता	हजार संख्या	४६.८७	१०.१६ (६४-६५)
	कार्यशील पूंजी	हजार रुपया	११३.८२	२४४७६.७९ (१९६४-६५)
	हिस्सा पूंजी	,, ,,	१३८६	५२७१.८२ (१९६४-६५)
	अन्तर्हित ग्रामीण परिवार	प्रतिशत	१५ (५५-५६)	४१ (१९६४-६५)
	अन्तर्हित गाँव	,,	६५ (५५-५६)	७९ (६४-६५)
३	**सामुदायिक विकास**			
	विकास खण्ड	संख्या	१ (१९५२-५३)	८
	जनसंख्या	हजार व्यक्ति	९०(१९५२-५३)	६११
	गाँव	संख्या	१०६ (१९५२-५३)	९७०
	क्षेत्रफल वर्ग कि० मी०		१२७९ (१९५२-५३)	८०८५
	ग्राम पंचायतें	संख्या	—	७७३
४	**शिक्षा**			
	साक्षरता	प्रतिशत	३२ (१९५१)	३४.२ (१९६१)
	कालेज	संख्या	[illegible]	१३ (१९६३-६४)
	हाई/हायर सेकण्ड्री	,,	४.. (..५७)	६६ (१९६३-६४)

सं०	विवरण	इकाई	वस्तु-स्थिति १९५०-५१	वस्तु-स्थिति १९६५-६६
	मिडिल स्कूल	संख्या	७७ (१९५६-५७)	९३ (१९६३-६४)
	प्राइमरी स्कूल	,,	१००९ (१९५६-५७)	८१० (१९६३-६४)
	अध्यापक	,,	४४७३ (१९५६-५७)	५७८० (१९६३-६४)
	छात्र	,,	१०२६०४ (१९५६-५७)	१३९४७४ (१९६३-६४)
	पॉली-टेकनिक	,,	—	१ (१९६५-६६)
५	**उद्योग**			
	पंजीकृत चालू फैक्ट्रियां	संख्या	७२	१९५ (१९६५)
६	**सड़कें**			
	पक्की सड़कें	कि. मी.	१६१	१२२५
	कच्ची सड़कें	,,	५४१	३४६
	मोटर गाड़ियाँ	संख्या	२४१९ (१९५७)	३००३ (१९६३-६४)
७	**चिकित्सा एवं स्वास्थ्य**			
	एलोपैथिक डिस्पेंसरियाँ एवं अस्पताल	संख्या	२८	३१ (१९६५)
	रोगी शैयाएं	,,	७७	१०४७ (१९६५)
	आयुर्वेदिक अस्पताल एवं डिस्पेंसरियाँ			६१ (१९६३-६४)
	[illegible]	,,	—	१ (१९६५-६६)
	[illegible]		—	३
	[illegible]	,,	—	२

Brazing Solders & 'ISMAK 3', Al...

...र्क निदेशालय, राजस्थान द्वारा प्रसारित

राजस्थान

विदेशों को माल भेजता है

नाम वस्तु	जहां भेजी जाती है
१. बकरी के बालों का सामान	ईराक, कुव्वैत, तथा अन्य अरब देश।
२. हाथों की चूड़ियां तथा अन्य शृंगार का माल	नाईजीरिया, तांगानिका, और जर्मनी।
३. खिलौने और घर की सजावट का सामान	अमेरिका, ब्रिटेन, अफगानिस्तान, नाईजीरिया।
४. पी.पी.सी. ओटोकेबिल्स और हलके पुर्जे	ईरान, कुव्वैत और इराक
५. स्प्रे गन तथा कृषि का अन्य सामान	वियतनाम और नेपाल।

✣ विदेशी मुद्रा अर्जित करने में देश के साथ राजस्थान अपना हाथ बंटा रहा है।

✣ उद्योग एवं पैदावार बनाने में आपका सहयोग वांछनीय है।

(राजस्थान सरकार द्वारा प्र

• युवालेखन और मुक्तचिन्तन की व्यवस्थित अभिव्यक्ति के लिए एक बौद्धिक मंच • परम्परा की अन्त्याक्षरी से अलग, समय और संवेदना में से उभरते निरावृत वर्तमान का टूटता और जुड़ता चित्र • आधुनिकतम समानान्तर चिन्तनवाली रचना, शीलता की स्पष्ट पक्षधरता का अनुष्ठान • सभी युवा कथाकार, कवि, विचारक, समीक्षक और कलाकार एक ही संकलन में—

• वर्ष में ३ अंक बाइण्डर के रूप में प्रकाशित होंगे। प्रत्येक बाइण्डर में ३-३ संकलन होंगे—कविता, कहानी और मुक्तचिन्तन के। ३ अंकों में से २ हिन्दी में तथा १ इंगलिश में प्रकाशित होगा। • मुहूर्त अंक—जनवरी : अप्रेल। दूसरा अंक—मई : अगस्त। लिंक इशू (इंगलिश में) सितम्बर : दिसम्बर। [वार्षिक सदस्यता : १५ रुपये। विशेष सदस्यता : स्वेच्छा से। 'आवेश' की फुटकर प्रति या स्टाल्स पर विक्रय या एक से अधिक वर्ष और आजीवन सदस्यता के लिए कृपया क्षमा करें। साथ ही विज्ञापन, ग्रांट तथा अयाचित रचनाएं हमारे लिए अनुपयोगी हैं। 'आवेश' की केवल १००० प्रतियां ही प्रकाशित होंगी। अतः सीमित सदस्यता में आप आना चाहें तो अग्रिम स्वागत है।]

रमेश बक्षी द्वारा प्रयोजित

एक अव्यावसायिक प्रयास

मुहूर्त अंक : मार्च १९६८

मुक्तचिन्तन
और
युवालेखन का
[illegible]

आवेश

रमेश बक्षी